विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ८ अगस्त २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(बीसवीं तालिका)

७६०. श्री मनीष कुमार पाण्डे, वीणा नगर, इन्दौर (म.प्र.)
७६१. श्री शैतान सिंह भाटी, परेवार, जैसलमेर (राजस्थान)
७६२. श्री विनोद प्रकाश दीक्षित, दादा नगर, कानपुर (उ.प्र.)
७६३. श्रीमती कृष्णा राय, नवाटोली, जशपुरनगर (छ.ग.)
७६४. श्री फूलचन्द्र आर्य, बुद्धधाम, नवाबगंज, उन्नाव (उ.प्र.)
७६५. श्री अमित कुमार राधेश्याम पालीवाल, उज्जैन (म.प्र.)
७६६. श्री राजेश कुमार देसाई, हरिया, अतुल, वलसाड़ (गुज.)
७६७. श्री प्रशान्त मनोहर चतुर, मलकापुर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
७६८. श्री विजय प्रकाश दीक्षित, तल्लीताल, नैनीताल, (उत्तरांचल)
७६९. श्री नरोत्तम शर्मा, आनन्द नगर, सीकर (राजस्थान)
७७०. श्री जी.के.दत्ता, मानसरोवर, जयपुर (राजस्थान)
७७१. श्री गोविन्द भाई पटेल, रामकुण्ड चौक, रायपुर (छ.ग.)
७७२. श्री बृजलाल फबवानी, गुजराती बाजार, सागर (म.प्र.)
७७३. श्रीमती धर्मशीला भुवालका, मार्टिन पार्क, कोलकाता
७७४. डॉ. माधव शुक्ला, बलौदा बाजार, रायपुर (छ.ग.)
७७५. श्री अजय मिश्रा, नेहरू नगर, बिलासपुर (छ.ग.)
७७६. डॉ. कुसुम जे. सिंह, ओल्ड पलासिया, इन्दौर (म.प्र.)
७७७. श्री एस. के. बैस, ओल्ड पलासिया, इन्दौर (म.प्र.)
७७८. श्रीमती शकुन्तला शर्मा, वाल्ड लेक, मिशीगन (अमेरिका)
७७९. श्री माहेश्वरी प्रसाद वर्मा, ओराई, जालौन (उ.प्र.)
७८०. विवेकानन्द सेवा मण्डल, मलकापुर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
७८१. श्री आलोक जोशी, एलोरा हाउसिंग, बड़ौदा (गुजरात)
७८२. श्री राकेश कुमार गौरहा, सरकण्डा, बिलासपुर (छ.ग.)
७८३. श्री श्याम कुमार शुक्ला, बलौदा बाजार, रायपुर (छ.ग.)
७८४. श्री अजय दीक्षित, हाउजिंग बोर्ड कॉलोनी, मुरैना (म.प्र.)
७८५. श्रीमती मधु खन्ना, १४ वाँ रास्ता, खार, मुम्बई (महा.)
७८६. डॉ. जयेश कावड़िया, शंकर नगर, रायपुर (छ.ग.)
७८७. श्रीमती टी. नागमणि, अडोनी, करनूल (आन्ध्रप्रदेश)
७८८. श्री तत्त्वकन्दर मिश्रा, रिंग रोड, कटक (उड़ीसा)
७८९. श्री सुनील एम. तिवारी, गणेश नगर, गोंदिया (महाराष्ट्र)
७९०. कुमारी जुही पाण्डे, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
७९१. श्री हरीश कुमार नागदेव, अमरदीप रोड, रायपुर (छ.ग.)
७९२. श्री सुरेश कुमार अग्रवाल, समता कॉलोनी, रायपुर (छ.ग.)
७९३. श्रीमती बृजबाला, जालोटी, सोलन (हिमांचल प्रदेश)
७९४. श्री संदीप गोखले, वारासिवनी, बालाघाट (महाराष्ट्र)
७९५. श्री के. एम. अग्रवाल, समर्थ नगर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
७९६. श्री ज्ञानप्रकाश मैदानी, समर्थ नगर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
७९७. श्रीमती अस्मिता देसाई, मातृछाया रोड, फोंडा (गोवा)
७९८. श्रीमती रेखा सावंत, खार रोड, वरली सी-फेस, मुम्बई
७९९. श्री हेमन्त कानोड़िया, न्यू रोड, अलीपुर, कोलकाता

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित सशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

जीवात्मा और परमात्मा
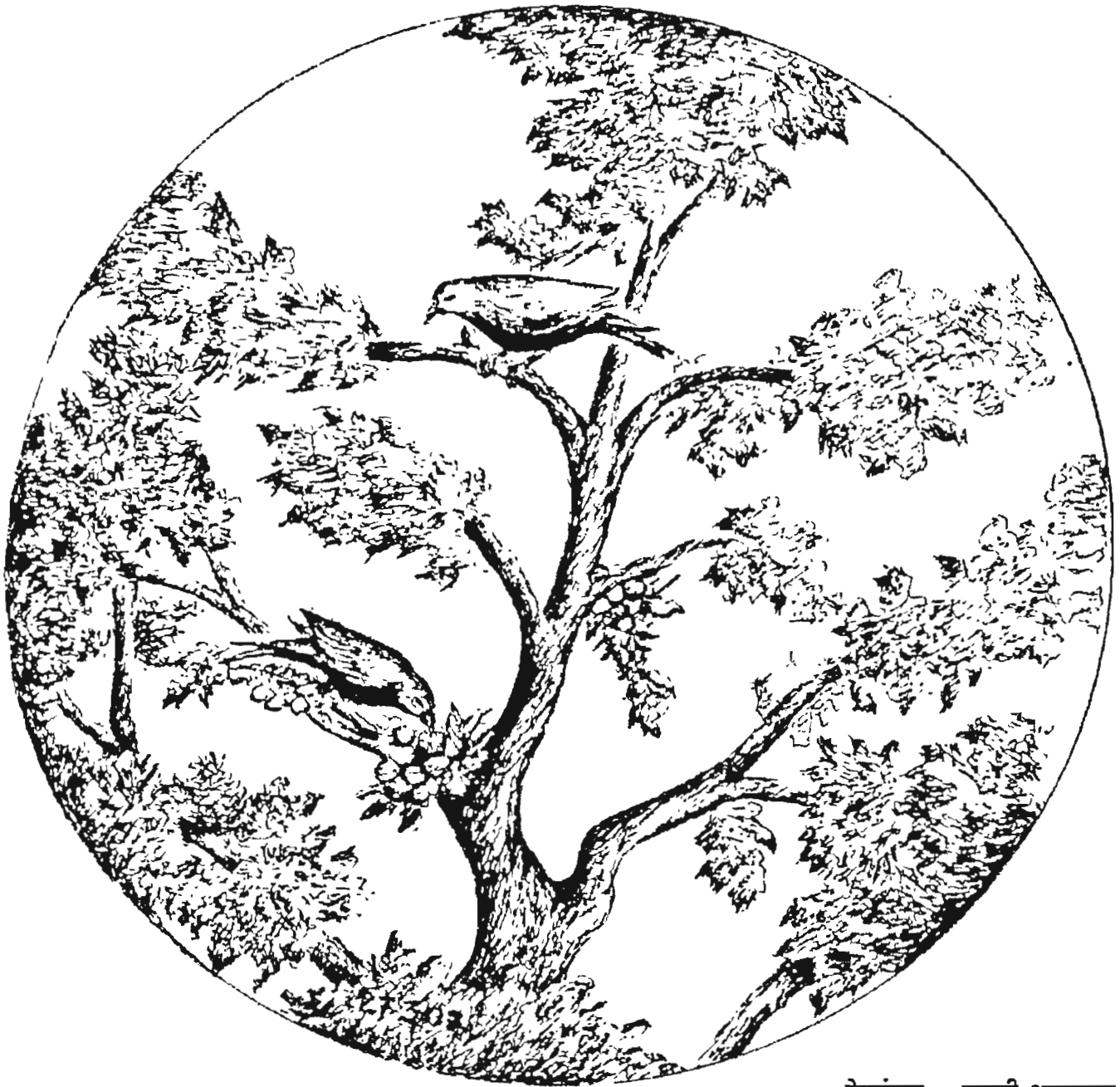
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

निम्नलिखित उपाख्यान में सम्पूर्ण वेदान्त का सार निहित है – स्वर्णिम पंखवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं । ऊपरी डाल पर बैठा हुआ पक्षी (परमात्मा) स्थिर, शान्त तथा अपनी ही महिमा में विभोर होकर रहता है; और नीचे की डाल पर बैठा हुआ पक्षी (जीवात्मा) सदा चंचल रहता है और कभी मीठा तो कभी कड़वा फल खाता रहता है । एक बार उसने बड़ा ही कड़वा फल खाया, तब उसने स्थिर होकर ऊपर बैठे हुए उस महिमामय पक्षी की ओर देखा । परन्तु शीघ्र ही उसे भूल गया और पहले के समान ही वृक्ष के फल खाने में लग गया । फिर उसे कड़वा फल मिला और इस बार वह फुदकते हुए ऊपर के पक्षी के समीप जा पहुँचा । इस प्रकार अनेक बार हुआ और अन्ततः नीचे का पक्षी ऊपरवाले के पास पहुँचकर उसी में विलीन हो गया । तब उसे ज्ञात हुआ कि दो पक्षी कभी थे ही नहीं; वह स्वयं ही सर्वदा शान्त, स्थिर भाव से स्वमहिमा में मग्न ऊपरवाला पक्षी ही था ।

श्री रामकृष्ण मठ
रिजर्व लाइन, न्यू नाथम रोड,
मदुरै ६२५-०१४ (तमिलनाडु)
फोन · (०४५२) ६८०२२४
E-mail : rkmath@eth.net

Web : www.maduairamakrishnamath.com

देवसेवा के लिए आमंत्रण

प्रिय मित्र,

नमस्कार। आप पर प्रभु की कृपा वर्षित हो।

तीर्थनगरी मदुरै जगन्माता मीनाक्षी की दैवी कृपा से परिपूर्ण है। प्राचीन काल से ही यह पावन तीर्थ तमिलनाडु की सांस्कृतिक राजधानी के रूप में जाज्वल्यमान है।

१९८७ ई. में आरम्भ हुआ मदुरै का वर्तमान श्री रामकृष्ण मठ अब एक शिशु के रूप में वर्धित हो चुका है। आगे के विकास हेतु इसे स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थालय, निःशुल्क वाचनालय तथा पुस्तक-विक्रय विभाग के लिए भवन की आवश्यकता है।

इसके लिए अनुमानित रु. ३० लाख की लागत से एक भवन बनवाने की योजना है। उदारचेता जनता से हमारा अनुरोध है कि सार्वजनिक हित के इस उत्तम कार्य के निमित्त आप उदारतापूर्वक दान करें।

छोटी हो या बड़ी, दान की हर राशि को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करके उसका प्राप्ति-संवाद भेजा जायेगा। इस उद्देश्य के लिए दिये गये दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं।

दान की राशि आप चेक, डिमाण्ड ड्राफ्ट, मनिआर्डर के द्वारा 'रामकृष्ण मठ, मदुरै' ('RAMAKRISHNA MATH, MADURAI') के नाम बनवाकर इस पते पर भेज सकते हैं –

The President Swamiji
Sri Ramakrishna Math
Reserve Line,
MADURAI 625-014
Tamil Nadu

प्रभु आपका मंगल करें। धन्यवाद सहित –

प्रभु की सेवा में,

(स्वामी कमलात्मानन्द)

अध्यक्ष

वर्ष ४० **अगस्त २००२** **अंक ८**

नीति-शतकम्

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ।।६५।।

अन्वयः – करे श्लाघ्यः त्यागः, शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयोः विजयि अतुलं वीर्यम्, हृदि स्वच्छा वृत्तिः, श्रवणयोः च अधिगतम् श्रुतम् – इदम् ऐश्वर्येण विना अपि प्रकृतिमहतां मण्डनम् ।

भावार्थ – हाथ में प्रशंसनीय दान, सिर पर गुरुजनों का किया हुआ प्रणाम, मुख में सत्य वाणी, भुजाओं में विजय प्राप्त करनेवाली अतुल्य वीरता, हृदय में निर्मल भाव और कानो द्वारा सुना हुआ शास्त्रज्ञान – ये धन के बिना ही प्राप्त होनेवाले महान् लोगों के स्वभावसिद्ध आभूषण हैं।

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम
आपत्सु च महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम् ।।६६।।

अन्वयः- महतां चित्तं सम्पत्सु उत्पल-कोमलम् , आपत्सु च महाशैल-शिला-सङ्घात-कर्कशम् भवति।

भावार्थ – समृद्धि के समय भी महान् लोगों का चरित्र कमल के समान कोमल और विपत्ति के समय विशाल पर्वत के चट्टानों के समान कठोर हो जाता है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

करुणामय रामकृष्ण, भोर भई जागिये ।
शय्या का मोह त्याग, शुभ्र वसन साजिये ।।

नभ में छाई ललाई, स्वागत को उषा आई,
पूजा की थाल लाई, आइये विराजिये ।।

शीतल मृदु मधुर मन्द, वायु चलत भर सुगन्ध,
बाजत सुर मन्द्र छन्द, तन्द्रा को त्यागिये ।।

कितने ही दीन दास, बैठे हैं दरस आस,
हिय में भरने हुलास, सबको अनुरागिये ।।

– २ –

करुणामय रामकृष्ण, अन्तर में आओ ।
हृदय वीणा मौन इसे
छेड़कर बजाओ ।।

राग विविध फूट पड़ें, मेरे कुटिल मन में,
दोष का न लेश रहे, भावमय जीवन में,
लीलाएँ दिखलाकर चित्त को लुभाओ ।।

गाते थे गीत मधुर, कैसे उन दिनों में,
मौन क्यों हुए प्रभो, अपने सुहृद जनों में,
यंत्र हूँ तुम्हारा, अब मेरे कण्ठ गाओ ।।

ढूँढ़ रहा था तुमको,
युग युग से वन में,
अब हुआ है ज्ञात मगर,
तुम छिपे हो मन में,
मैं तो तुम्हें पा न सका,
तुम ही मुझे पाओ ।।

– *विदेह*

नीति और सदाचार

स्वामी विवेकानन्द

वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य को कार्य में परिणत किया जा सकता है – यही मेरा मत है। और यदि समाज इस समय उच्चतम सत्य को अपनाने में समर्थ नहीं है, तो उसे इसके योग्य बनाओ। और जितना शीघ्र तुम ऐसा कर सको, उतना ही अच्छा। हे नर-नारियो! उठो, अपनी आत्मा के प्रति सचेत होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो, सत्य के अभ्यास का साहस करो।

दो आदर्श हैं – पाश्चात्य राष्ट्रों का प्रतीयमान बल तथा शक्ति और प्राच्यों की कष्ट-सहिष्णुता तथा क्षमा। कौन जाने, इन दोनों में कौन सत्य और उच्च है!

पश्चिम कहता है, "हम बुराई पर विजय पाकर उनका नाश करते हैं"; भारत कहता है, "हम सहन करके बुराई का नाश करते हैं, यहाँ तक कि वह हमारे लिये नगण्य तथा आनन्द की वस्तु बन जाता है"। शायद दोनो ही आदर्श महान् हैं; पर कौन जाने, अन्ततोगत्वा कौन-सा जीवित रह सकेगा – किस आदर्श की जय होगी? कौन जाने, किस आदर्श से मानव-जाति का अधिकतर सच्चा हित साधित हो सकेगा? सहिष्णुता अथवा क्रियाशीलता – इनमें से कौन-सा आदर्श मनुष्य की पाशविकता को नष्ट करके उस पर विजय पा सकेगा, कौन कह सकता है?

अत: हमें एक-दूसरे के आदर्शों को नष्ट करने की चेष्टा छोड़ देनी चाहिए। हम दोनों का लक्ष्य एक ही है – बुराई का नाश। तुम अपनी प्रणाली के अनुसार कार्य करो और हमें अपने अनुसार करने दो। हम आदर्श नष्ट न करें। मैं पश्चिम से यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम हमारा मार्ग अपना लो। कभी नहीं। लक्ष्य एक है, पर मार्ग कभी एक नहीं हो सकता। इस जीवन में पूर्व और पश्चिम, दोनों को मेरा यही सन्देश है कि विभिन्न आदर्शों पर विवाद व्यर्थ है, लक्ष्य दोनों का एक ही है, वे ऊपर से चाहे जितने भी भिन्न क्यों न प्रतीत हों।

ऊपरी सतह के सभी विरोधाभासों के बावजूद आत्मा की शाश्वत, अनन्त और तात्त्विक पवित्रता को स्वीकार करना ही नीतिशास्त्र का कार्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा, न कि विविधता का विनाश करना और बाह्य जगत् में एकरूपता की स्थापना करना – जो असम्भव है, क्योंकि उससे मृत्यु तथा विनाश हो जायेगा। इसे हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

जब हम नीतिशास्त्र पर विचार करते हैं, तो हमें बड़ा भेद दीख पड़ता है। शायद यही एकमात्र विज्ञान है जो साहसपूर्वक इस संघर्ष को पीछे छोड़ देता है। क्योंकि नीतिशास्त्र एकता है; इसका आधार प्रेम है। आज तक मानव-जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते। उनका एक लक्ष्य बस वही एकता लाना है। भारतीय मस्तिष्क, मेरा अभिप्राय वेदान्ती मस्तिष्क से है, अधिक विश्लेषक है। और उसने समस्त विश्लेषण के परिणाम-स्वरूप इस एकत्व का पता लगाया और उसने एकत्व के इस एक भाव पर प्रत्येक वस्तु को आधारित करना चाहा।

अत:-कर्मयोग, नि:स्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्ति-लाभ करने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास करने की जरूरत नहीं। चाहे वह ईश्वर में भी विश्वास न करे, आत्मा के बारे में न जानना चाहे, या किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नही। उसके सम्मुख उसका अपना लक्ष्य रहता है – नि:स्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में यह उपलब्धि होनी चाहिये, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धान्त की सहायता लिये बिना ही अपनी इस समस्या का समाधान केवल कर्म द्वारा करना होता है, जबकि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने विचार और अन्त:करण द्वारा तथा भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है।

आजकल स्वर्णयुग की इसी भावना ने स्वाधीनता, साम्य तथा मैत्री का रूप धारण कर लिया है। यह भी एक धर्मान्धता है। यथार्थ साम्य न तो कभी संसार में हुआ है, और न कभी होने की आशा है। यह सब समान हो ही कैसे सकता है? इस प्रकार के असम्भव साम्य का फल तो मृत्यु होगा।

तो भी स्वर्णयुग को लाने की कल्पना एक प्रबल प्रेरक शक्ति है। जिस प्रकार सृष्टि के लिये विषमता आवश्यक है, उसी प्रकार उसे सीमित करने की चेष्टा भी नितान्त आवश्यक है। यदि मुक्ति एवं ईश्वर के पास लौट जाने की चेष्टा न हो, तो सृष्टि भी नहीं रह सकती। कर्म करने के पीछे मनुष्य का जो हेतु रहता है, वह इन दोनों शक्तियों के अन्तर से ही निश्चित होता है। कर्म के प्रति जो हेतु प्रेरणाएँ सदा विद्यमान रहेंगी – कुछ बन्धन की ओर ले जायेंगी और कुछ मुक्ति की ओर।

यह स्वयं सिद्ध तथ्य है कि अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ लोगों में शारीरिक बल अधिक होगा और इस प्रकार स्वाभाविक
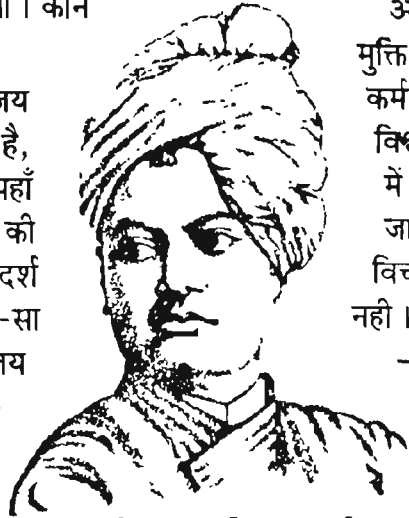
है कि वे निर्बल को दबा देंगे या परास्त कर देंगे, पर कानून यह नहीं कहता कि इस बल के कारण जीवन के सभी प्राप्य सुखों को वे अपने पास समेट लें, संघर्ष इसी के विरुद्ध रहा। यह स्वाभाविक है कि कुछ लोग स्वभावत: सक्षम होने के कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक धन-संग्रह कर लें; किन्तु धन-संग्रह के इस सामर्थ्य के कारण वे उन लोगों पर अत्याचार और अन्धाधुन्ध व्यवहार करें, जो उतना धन कमाने में समर्थ न हों, तो यह कानून का अंग नहीं है और इसके विरुद्ध संघर्ष हुआ है। दूसरों के ऊपर सुविधा के भोग को विशेषाधिकार कहते हैं और इसका विनाश करना युग युग से नैतिकता का उद्देश्य रहा है। यह कार्य ऐसा है, जिसकी प्रवृत्ति साम्य और एकत्व की ओर है तथा जिससे विविधता का नाश नहीं होता।

परिवर्तन सदा 'अपने' ही अन्दर होता है। समस्त क्रमविकास में तुम सर्वत्र देखते हो कि प्राणी में परिवर्तन होने से ही प्रकृति पर विजय प्राप्त होती है। इस तत्त्व का प्रयोग धर्म और नीति में करो, तो देखोगे, यहाँ भी 'बुराई पर जय' 'अपने' भीतर परिवर्तन के द्वारा ही होता है। सब कुछ अपने ऊपर निर्भर रहता है। इस अपने पर जोर देना ही अद्वैतवाद की वास्तविक दृढ़ भूमि है। अशुभ, दु:ख की बात कहना ही भूल है, क्योंकि बहिर्जगत् में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। इन सब घटनाओं में स्थिर भाव से रहने का यदि मुझे अभ्यास हो जाय, तो फिर क्रोधोत्पादक सैकड़ों कारण सामने आने पर भी मुझमें क्रोध का उद्रेक न होगा। वैसे ही लोग मुझसे चाहे जितनी घृणा भाव करें, पर यदि मैं उससे प्रभावित न होऊँ, तो मुझमें उनके प्रति घृणा भाव उत्पन्न ही न होगा।

भलाई और बुराई मात्रा का तारतम्य है – आत्मा की अल्प या अधिक अभिव्यक्ति को लेकर। हमारे निज के जीवन के दृष्टान्त ही लो। बचपन में कितनी वस्तुओं को हम अच्छा समझते थे, जो वास्तव में बुरी हैं; और कितनी वस्तुओं को हम बुरे के रूप में देखते हैं, जो वास्तव में अच्छी है; हमारी धारणा का कैसा परिवर्तन होता है? एक भाव किस प्रकार उच्च से उच्चतर होता रहता है। हम एक समय जिसे बहुत अच्छा समझते थे अब हम उसे उतना अच्छा नहीं मानते। इस प्रकार शुभ-अशुभ अन्धविश्वास मात्र है और उनका अस्तित्व नहीं है। इसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति तब होती है, जब सारा आच्छादन नष्ट हो जाता है। अन्तर केवल मात्रा के तारतम्य में है, सब उस आत्मा की अभिव्यक्ति है। वह सबमें ही प्रकाशित हो रही है, केवल उसका प्रकाश स्थूल होने पर हम उसे बुरा कहते हैं और सूक्ष्म होने पर भी भला कहते हैं।

नीतिशास्त्र सदा कहता है – 'मैं नहीं, तू।' इसका उद्देश्य है – 'स्व नहीं, नि:स्व:'। इसका कहना है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनन्द को प्राप्त करने के क्रम में मनुष्य जिस निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपटा रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुमको दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र का पूरा विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। असीम की अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती, ऐसा असम्भव है, अकल्पनीय है।

सभी नीतिशास्त्रों का, निरपवाद रूप से एक बड़ा दोष यह है कि उन्होंने उन साधनों का कभी उपदेश नहीं दिया, जिनके द्वारा मनुष्य बुरा करने से अपने को रोक सके। सभी नीतिशास्त्र कहते हैं कि चोरी मत करो। ठीक है; पर मनुष्य चोरी करता ही क्यों है? कारण यह है कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार आदि कुकर्म यांत्रिक सहज क्रियाएँ बन बैठे हैं। डाका डालनेवाले, चोर, झूठे तथा अन्यायी स्त्री-पुरुष – ये ऐसे इसलिए हो गये हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ नहीं। सचमुच यह मनोविज्ञान के लिये एक बड़ी विकट समस्या है। मनुष्य की ओर हमें बड़ी उदारता की दृष्टि से देखना चाहिए। अच्छा बनना इतनी सरल बात नहीं है। जब तक तुम मुक्त नही होते, तब तक एक यंत्र के सिवा तुम और क्या हो? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिये कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिल्कुल नहीं। तुम इसलिये अच्छे हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिये बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं। यदि तुम उसकी जगह होते, तो कौन जानता है कि तुम क्या होते? एक वेश्या या जेलबन्द चोर मानो ईसा मसीह है, जो इसलिये सूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। प्रकृति में इसी तरह साम्यावस्था रहती है। सब चोर और खूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश और राक्षस मेरे लिये ईसा मसीह हैं! देवरूपी ईसा तथा दानवरूपी ईसा, दोनों ही मेरे लिये आराध्य हैं। यही मेरा धर्म है, इससे अन्यथा मेरे बस की बात नहीं। अच्छे और साधु पुरुषों को प्रणाम! दुष्ट और शैतानों को भी मेरा प्रणाम! वे सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे त्राता हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूँ, परन्तु सम्भव है, फिर उसी के दोषों से मेरा लाभ भी हो; दूसरे को मैं आशीर्वाद दूँ और उसके शुभ कर्मों से मेरा हित हो। यह सूर्य-प्रकाश के समान सत्य है। दुराचारी स्त्री को मुझे इसलिये दुत्कारना पड़ता है कि समाज वैसा चाहता है। आह, वह! मेरी तारिणी, जिसकी वेश्यावृत्ति के ही कारण दूसरी स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित रहा, इसका विचार तो करो! भाइयो और बहनो, इस प्रश्न को जरा अपने मन में सोचो। यह सत्य है – बिल्कुल सत्य है। मैं जितनी ही अधिक दुनिया देखता हूँ, जितना ही अधिक स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क मे आता हूँ, उतनी ही मेरी यह धारणा दृढ़तर होती जाती है। मैं किसे दोष दूँ? मैं किसकी तारीफ करूँ? हमे वस्तुस्थिति का सभी पक्षों से विचार करना चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

अंगद-चरित (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके तीसरे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे प्राध्यापक है। – सं.)

इसी प्रकार जब भगवान ने असुरों को मरणधर्मा बना दिया तो मरणधर्मा होकर असुर भी अन्त में मुक्त होते है और साथ-ही-साथ समाज भी असुरों के अभिशाप से मुक्त हो जाता है, पर इसके अन्तरंग रूप पर विचार करें, तो समुद्र-मन्थन का रूपक गोस्वामीजी को अत्यन्त प्रिय है, वे कई प्रसंगों में इसका उल्लेख करते हैं और भगवान राम के वन-गमन को भी उन्होंने समुद्र-मन्थन के रूप में प्रस्तुत किया है। वेद के अध्ययन को भी वे समुद्र-मन्थन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के विविध क्षेत्रों में यह अमृत-मन्थन की प्रक्रिया चलनी चाहिये और उस प्रक्रिया में भी वही सूत्र है। पहला सूत्र तो यह है कि भगवान ने कहा – समुद्र में रत्न है, उसे प्रगट करना है। सब कुछ होते हुए भी जब तक उसे प्रगट न किया जाय, तब तक उसका लाभ क्या है? जैसे पृथ्वी में सोना भी छिपा हुआ है, लोहा भी और कोयला भी, पर जब तक उसे पृथ्वी के अन्तराल से बाहर प्रगट न किया जाय, तब तक उसके होने भर से क्या लाभ ! भगवान कहते हैं – समुद्र में सारी वस्तुएँ छिपी हुई हैं, तुम सब मिलकर मन्थन करके उसे प्रगट करो।

यह मन्थन क्या है? यही कर्म है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति अगर संसार में प्रयत्न नहीं करेगा, पुरुषार्थ नहीं करेगा, कर्म नहीं करेगा और बिना प्रयत्न किये ही वह कल्पना करे कि हम जीवन में अमृतत्व प्राप्त कर लेंगे, तो वह सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान संकेत करते हैं कि उस अमृतत्व को पाने के लिये पुरुषार्थ करो, पर अगला संकेत और भी महत्त्व का है।

समुद्र-मन्थन के लिये तीन वस्तुओं के संयोग की आवश्यकता है। देवताओं ने कहा – महाराज मन्थन तो हम लोग करेंगे, पर इसके लिये मथानी किसकी बनेगी और मथानी को चलाने के लिये रस्सी कौन-सी होगी? तो भगवान ने संकेत दिया कि मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाओ। यह सूत्र बड़े महत्व का है। यह मन्दराचल शब्द बना कैसे है? मन्दर और अचल, इन दो शब्दों को मिलाकर यह मन्दराचल शब्द बना है। अचल का अर्थ है, जो चलता नहीं है, जो डिगता नहीं है। मन्दराचल पर्वत है, वह अचल है, अडिग है। पर्वत अचल और अडिग होता है, इसलिए पर्वत का एक नाम अचल भी है। भगवान बड़ी अनोखी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि मन्दराचल पर्वत को मथानी बनाओ – इसके अर्थ पर ध्यान दीजिए। जब उस पर्वत को मथानी बनाया जायेगा तो वह अचल रहेगा या चलेगा? अब यदि मथानी चलेगी नहीं तो मन्थन कैसे होगा? दही के बर्तन में मथानी डालकर आप यदि बैठ जायँ, तो भले ही आप दस दिन बैठे रहे, पर कुछ भी नही मिलने वाला है। उस मथानी को चलाना होगा। भगवान बड़ी अनोखी बात कहते हैं। मन्दर तो है अचल, अब इस अचल मन्दर को किस तरह चल बनाना है? यह मन्दर क्या है? गोस्वामी जी कहते हैं – विचार ही मन्दराचल पर्वत है –

मुदिताँ मथै बिचार मथानी। ७/११७/१५

विचार के साथ वही समस्या जुड़ी हुई है कि जहाँ विचार आता है, वहाँ पर स्थिरता आ जाती है और विचार जहाँ स्थिरता के रूप में रहे, तो कई लोग यह कहकर प्रशंसा करते हैं कि ये तो अपने विचारों पर अडिग हैं, स्थिर हैं। पर याद रखिये, विचारों का अडिग और स्थिर रहना ही गुण नहीं है, उसे जरा गतिशील भी बनाइये। यह जो विचार है, उसको हम कर्म के साथ जोड़कर गतिशील करें। अचल को चल कैसे बनाएँ? इसकी पद्धति भगवान ने बता दी है। भगवान का अभिप्राय यह था कि आप कर्म कीजिए, केवल विचार के कारण कहीं आपके जीवन में जड़ता न आ जाय। स्थिरता कभी कभी जड़ता का रूप ग्रहण कर लेती है। मनुष्य जब विचारक बन जाता है, तो कभी कभी उसमें जड़ता आ जाती है। विचार जड़ न हो जाय, इसलिए हमारी सारी पौराणिक कथायें हमें सावधान करती हैं।

पार्वतीजी भगवान शंकर की प्रिया हैं। ये पार्वतीजी किसकी पुत्री हैं? किसी राजा का नाम लिया जा सकता था, पर नहीं, पुराणों में यह कहा गया कि वे हिमालय की पुत्री हैं। इसका तात्पर्य क्या हुआ? पर्वत को, पत्थर को तो संसार में जड़ माना जाता है, पर जब यह कहा गया कि हिमालय से पुत्री का जन्म हुआ तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि जड़ता में भी गुण है, उसकी अचलता और अडिगता उसका गुण है। पर यह ध्यान रखें, यह जड़ताजन्य अडिगता नहीं है, क्योंकि यहाँ पर परम चैतन्यमयी का जन्म हो रहा है, इसलिए इसमें मूल तत्व यही है कि यह हिमालय चैतन्य है। पार्वती मूर्तिमती श्रद्धा हैं। श्रद्धा का जन्म कब होगा? जब उसमें अडिग आस्था के साथ

ही चैतन्यता भी हो। हिमालय यदि जड़ है, तो पत्थर की बेटी का अर्थ अलग है। उस अर्थ में भी उसे श्रद्धा से जोड़ दिया गया। जब सप्तर्षि पार्वती पर व्यंग्य करने लगे, बोले – आप किससे विवाह करना चाहती हैं? पार्वती ने कहा – शंकरजी को पति के रूप में वरण करना चाहती हूँ –

चाहिअ सदा सिवहि भरतारा। १/७७/७

तो सातों ऋषि एक साथ में हँस पड़े –

सुनत बचन बिहसे रिषय
गिरिसंभव तव देह। १/७८

– ठीक है, पत्थर की बेटी, तुम अपनी जड़ता का ही तो परिचय दोगी।

पार्वतीजी ने जड़ता को दो अर्थों में लिया। उन्होंने कहा – यदि आप पत्थर का जड़ता के रूप में अर्थ लेते हैं तो आप भूल कर रहे हैं। मैं यह अर्थ नहीं लेती, मेरा अर्थ दूसरा है। ऋषियों ने कहा – क्या पत्थर जड़ नहीं है? बोलीं – पत्थर यदि जड़ है, तो पत्थर की बेटी को जो समझाने की चेष्टा करे, उसे जड़ कहें या चेतन? पत्थर भला क्या समझेगा? पत्थर के सामने खड़े होकर रोज भाषण दिया करें, पत्थर तो ज्यों का त्यों रहेगा। आप यदि मुझे जड़ मानते हैं तो समझने की चेष्टा न करें, पर यदि मेरी दृष्टि से देखें तो – सोना भी पत्थर से ही निकलता है। लेकिन उस सोने की विशेषता यही है कि अग्नि में जलने पर भी वह अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता –

कनकउ पुनि पाषान तें होई।
जारेहुँ सहजु न परिहर सोई।। १/७९/६

अभिप्राय यह है कि अडिग आस्था से ही श्रद्धा का जन्म होता है। कठिन-से-कठिन और प्रतिकूल समय में भी उसमें विकृति नहीं आती, वह श्रद्धा कभी समाप्त नहीं होती। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि हमारे जीवन में विचार केवल अडिग आस्था में न रहकर गतियुक्त बने, अचल से सचल बने और तीसरी बड़ी आवश्यक वस्तु और जुड़ गयी। कौन सी?

जब मन्थन करेंगे, तो कर्म होगा। जब मन्दराचल को चलाया जायेगा, तो वह विचार का प्रयोग हुआ। अब ईश्वर की आवश्यकता है या नहीं? बड़ी मधुर बात आयी। प्रश्न उठा – प्रभो, आपने मथानी इतनी बड़ी बना दी, परन्तु मथानी के साथ यह समस्या है कि वह इतनी भारी न हो कि बर्तन ही टूट जाय। आप घड़े में एक बहुत अधिक वजन की मथानी डाल दीजिए, घड़ा ही टूट जायेगा। जब इतना बड़ा पहाड़ मन्दराचल समुद्र में डाला जायेगा, तो वह टिकेगा कहाँ? तो भगवान ने कहा – यह कार्य मुझ पर छोड़ दो। तब भगवान कछुआ बन गये और उस मथानी को अपने पीठ पर ले लिया। कितना सांकेतिक अभिप्राय है। क्या? यह कि ईश्वर जो हमारे समस्त कर्म और विचार का आधार है, वह प्रत्यक्ष भले ही न हो, पर अन्तराल में आधार वही है, कर्म और विचार का आधार ईश्वर है। विचार गतियुक्त और उसके साथ साथ प्रयत्न और कर्म हो, तो इस प्रक्रिया से अमृतत्व की प्राप्ति होगी।

यह है समुद्र-मन्थन का तात्पर्य। रामायण और महाभारत में, या फिर आप गीता के उपदेशों को पढ़ें, चेष्टा सर्वत्र यही की गयी है कि कहीं विचार व्यक्ति को निष्क्रिय न बना दे या कर्म की आसक्ति कहीं व्यक्ति को विचारशून्य न बना दे।

अर्जुन के सामने यही समस्या है। अर्जुन जब बहुत विचार करते हैं, उनके मन में जब विचार उमड़ा तो उसका एक परिणाम आया, उनके मन में आया कि हम युद्ध नही करेंगे। एक विचारक के रूप में युद्ध के क्या क्या दुष्परिणाम होंगे, वह अर्जुन के मन में आया और इससे अर्जुन के मन में युद्ध से विरक्ति हो गई। भगवान अर्जुन को कर्म के लिये प्रेरित करते हैं, पर इस कर्म में विशेषता यही है कि उस कर्म के साथ भगवान विचार को भी जोड़ देते हैं और साथ ही शरणागति का उपदेश देकर भी उन तीनों को, कर्म, भक्ति और ज्ञान का सामंजस्य करते हैं। गीता का तत्त्व भी वही है और 'मानस' में भी इसी ओर संकेत किया गया है। दोनों में वही समस्या है। भगवान श्रीकृष्ण चाहते हैं कि कर्ण और अर्जुन साथ रहें, एक-दूसरे के पूरक बनें। इसीलिये आप महाभारत में पढ़ते हैं कि भगवान जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गये और लौटते समय जब वे बाहर निकले तो कर्ण भी उन्हें पहुँचाने के लिये बाहर तक आया। तब भगवान ने कर्ण से प्रस्ताव किया कि कर्ण, तुम मेरे रथ में आकर बैठ जाओ। यह सांकेतिक भाषा है। भगवान जो बात कहना चाहते थे, वह तो अकेले में भी बुलाकर कह सकते थे, लेकिन भगवान ने कर्ण को अपने रथ पर बैठाया। यह मानो भविष्य की सांकेतिक तुलना है। भगवान का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा भाई मुझे अपने रथ पर बैठायेगा, पर तुम तो मुझे अपने रथ पर बैठानेवाले नहीं हो, तो कम-से-कम मेरे ही रथ पर तुम बैठ जाओ। अर्जुन तो अपनी बागडोर मुझे सौंपने के लिये प्रस्तुत है, पर तुममें वह धारणा नहीं है, मुझ पर तुम्हें वैसा विश्वास नहीं है। इसलिए मैं तुमसे प्रस्ताव करता हूँ कि तुम आओ, अपने आपको पहचानो कि तुम कौन हो? तुम अर्जुन के बड़े भाई हो, युधिष्ठिर के भी बड़े भाई हो, अपने स्वरूप को पहचानो, अपने कर्तव्य को पहचानो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि सिंहासन पर तुम बैठोगे, राज्य तुम करोगे और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि सभी भाई तुम्हारी सेवा करेंगे। व्यवहार के अर्थ में तो लोग कहेंगे कि यह भगवान की कूटनीति है या छल-कपटपूर्वक कर्ण को दुर्योधन से अलग करने का चेष्टा है, पर आन्तरिक दृष्टि से तो भगवान कर्ण को वही बता रहे हैं, जो जीवन का सत्य है। भगवान का तात्पर्य है कि सूर्य का पुत्र ज्ञान सिंहासन पर बैठे, ज्ञान राज्य करे और

धर्म उसकी सेवा करे – राजा युधिष्ठिर नहीं, कर्ण हो। यह जो जीवन का स्वरूप है, भगवान यही चाहते हैं। भगवान की मान्यता यह है कि धर्म भी वन्दनीय है और ज्ञान भी, पर दोनों में अधिक वन्दनीयता की दृष्टि से विचार करके देखा जाय तो ज्ञान अधिक वन्दनीय है। ज्ञान सिंहासन पर बैठे और धर्म उसकी सेवा करे। भगवान इसकी ओर कर्ण का ध्यान आकृष्ट करते हैं, पर कर्ण की समस्या वही है जो बहुत बुद्धिमानों की होती है। कर्ण ने कहा – महाराज, जो आप कह रहे हैं, मैं सब समझता हूँ। महाभारत में तो आता है कि कर्ण भगवान को न जाने कितने सपने सुना गया। कहा – आजकल मैं यह सपना देखता हूँ, वह सपना देखता हूँ और कर्ण ने जितने सपने सुनाये, वे अपसकुन वाले थे, विनाश और मृत्यु का संकेत देनेवाले थे। भगवान ने कहा कि तुमने इन सपनों का क्या अर्थ लिया? बोले – अर्थ यही लिया कि दुर्योधन का विनाश होगा। परन्तु सपना तो मनुष्य को सावधान करने के लिये आता है, पर तुमने इसका क्या निष्कर्ष निकाला? बोले – महाराज, अब चाहे जो भी हो, पर मैं दुर्योधन का साथ नहीं छोड़ सकूँगा। तो ऐसा ज्ञान किस काम का जो सब जानने-समझने के बाद भी यही कहे कि हम तो मोह के साथ ही रहेंगे, सेवा तो अन्धे के पुत्र की ही करेंगे, आप चाहे जितना भी समझाइये, हम उसका साथ नहीं छोड़ सकते। तब भगवान यही कहते हैं, तो फिर मुझे तुम्हारा विनाश ही करना पड़ेगा और भगवान ने अन्त में यही किया भी।

भगवान का अभिप्राय यह है कि जो विचार अभिमानी होकर मोह की सेवा करे, उसको मिटा ही देना चाहिये। रामायण में मोह को अन्धत्व का प्रतीक माना गया है –

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। ७/७०/७

महाभारत में अन्धे धृतराष्ट्र का बेटा दुर्योधन है और कर्ण दुर्योधन की सेवा में है। इसलिए भगवान कर्ण का विनाश कर देते हैं, उस ज्ञान और विचार को मिटा देते हैं, जो धर्म का विरोधी है और अन्त में धर्म को ही सिंहासन पर अभिषिक्त करते हैं। यहाँ पर रामायण में भगवान श्रीराघवेन्द्र ने सिंहासन पर सुग्रीव को बिठाया और अंगद को युवराज बनाया। यही तो पूर्ण सामञ्जस्य है। भगवान कहते हैं कि सही पद्धति यह होगी कि सिंहासन पर सुग्रीव बैठें और अंगद युवराज के रूप में उनके उत्तराधिकारी बने रहें। यही ज्ञान और कर्म का सामंजस्य है। अहंकारी बालि निरहंकारी हो गया और अन्त में भगवान में लीन हो गया। परन्तु अंगद ! वे तो अभिमानरहित सत्कर्म के स्वरूप हैं। अंगदजी के चरित्र में पुरुषार्थ तो इतना है कि हनुमानजी के बल के आस-पास यदि किसी का बल दिखाई देता है, तो वह अंगद जी का ही है। इसके बावजूद पूरे रामायण में आपको एक भी ऐसा प्रसंग नहीं मिलेगा, जहाँ अंगद की वाणी में कहीं अभिमान दिखाई दे। उनकी विनम्रता इतनी विलक्षण है कि आदि से अन्त तक निरन्तर वे विजयी बने रहे, पर इस बात का अभिमान उन्हें कभी नहीं हुआ। वे निरन्तर विनम्र ही रहे। भगवान श्रीराम किष्किंधा में जो राज्य स्थापित करते हैं, उसका स्वरूप यही है कि सुग्रीव और अंगद के बीच सामंजस्य स्थापित हो। इन दोनों का सामंजस्य बहुत सरल नहीं है। अंगद और सुग्रीव में कुछ दूरी बनी हुई है। यह एक बड़ी विचित्र-सी बात है। क्यों? समस्या मनोवैज्ञानिक रूप से यही थी कि भगवान के आदेश से एक तो सिंहासन पर बैठ गया और एक युवराज बन गया, पर दोनों के मन में कहीं-न-कहीं संस्कारजन्य दूरी विद्यमान थी। अंगद के मन में एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास है। उनका एक पक्ष तो इतना उज्ज्वल है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है, पर दूसरा पक्ष यह है कि वे अपने मन की एक ग्रन्थि से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाते। वह ग्रन्थि क्या है? सुग्रीव को तो विचित्र-सा प्रतीत होता है कि प्रभु ने अंगद को युवराज बनाना आवश्यक समझा और अंगद की मन:स्थिति यह है कि श्रीराम के प्रति अंगद को इतना अधिक विश्वास है कि कठिन-से-कठिन एवं विपरीत परिस्थिति में भी उनका विश्वास न डिगा। इस रूप में तो अंगद की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है। अब कल्पना कीजिए, बालि की मृत्यु अंगद के समक्ष हुई। अंगद ने अपने पिता की मृत्यु को देखा और श्रीराम ने उसके पिता का वध किया। ऐसी स्थिति में अंगद के मन में तो श्रीराम के प्रति सर्वाधिक विद्वेष या विरोध आ सकता था। वे यह सोच सकते थे कि जिन्होंने मेरे पिता का वध किया, उनसे बढ़कर मेरा विरोधी कौन हो सकता है। लेकिन अंगद सचमुच श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति पूर्ण आस्थावान थे। यदि वे श्रीराम को केवल एक राजकुमार मानते होते, तो शायद श्रीराम ही उनके सबसे अधिक विद्वेष के पात्र होते और वे उनसे लड़कर बदला लेने की चेष्टा करते। साहस न होता तो भले ही चुप रह जाते, पर मन-ही-मन घृणा तो करते ही। आपने ध्यान दिया होगा कि रामायण में अंगद के मन में श्रीराम के प्रति कभी उलाहना नहीं आया कि इन्होंने मेरे पिता को मार दिया। निर्ममता दोनों अर्थों में होती है। किसी की प्रशंसा में भी निर्मम कहा जाता है और निन्दा में भी। समाचार पत्रों में तो आज निर्मम शब्द बड़े कठोर अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अंगद कितने निर्मम हैं, इसका परिचय रावण की सभा में मिला। जब वे राजदूत बनाकर रावण की सभा में भेजे गये, तो रावण ने पूछा – तुम कौन हो? इस पर अंगद ने अपना परिचय देते हुए यही कहा – मैं बालि का पुत्र हूँ –

अंगद नाम बालि कर बेटा। ६/२१/३,

और इसके साथ ही उन्होंने रावण के ऊपर एक व्यंग्य भी किया – क्या मेरे पिताजी से आपकी कभी भेंट हुई? –

तासों कबहुँ भई ही भेटा।। ६/२१/३

रावण भी बोलने की कला में कम निपुण नहीं था। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, लगा कि राम का राजनैतिक ज्ञान ठीक नहीं है। क्योंकि जिसके पिता का वध उन्होंने स्वयं किया हो और जिसका राज्य छीनकर दूसरे को दे दिया हो, ऐसे व्यक्ति को राजदूत बनाकर भेजने में कौन सी बुद्धिमानी है? इसको तो मैं अभी फोड़ लूँगा। अंगद को फोड़ने के लिये रावण ने पूछा – हाँ, बालि से मेरी भेंट हुई थी, वे मेरे मित्र थे, पर यह बताओ – हमारे मित्र बालि कुशल तो हैं, आजकल वे कहाँ हैं?

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। ६/२१/७,

रावण को ज्ञात है कि बालि की मृत्यु हो चुकी है, लेकिन अंगद को चोट पहुँचाने के लिये, याद दिलाने के लिये कि तुम उसके दूत बनकर आये हो, जिसने तुम्हारे पिता का वध कर दिया है? रावण की बात सुनकर तो अंगद को उदास हो जाना चाहिये था, पिता की याद आने पर उसे शोक होना चाहिये था, पर उन्हें न तो शोक हुआ, न वे उदास हुए। क्यों नही हुए? जो सुहृद व्यक्ति होता है, उसे अपने परिवार के लोगों से स्वाभाविक ही स्नेह होता है, ममता होती है। ऐसी स्थिति में जब किसी की याद आ जाती है, तो उसे दु:ख होता है, चोट-सी लगती है। अंगद को चोट ही नही, दु:ख भी होना चाहिये था, पर अंगद तो रावण की बात सुनकर हँसने लगे।

बिहँसि बचन तब अंगद कहई।। ६/२१/७

क्या यह हँसने का अवसर है? रावण विस्मित हो गया – यह हँस किस बात पर रहा है? अंगद बोले – रावण, उनकी कुशलता का समाचार मुझे पता नहीं, क्योंकि काफी दिनों से मेरी उनसे भेंट नहीं हो सकी है, पर अब तो तुम भी वही जाने वाले हो, अत: स्वयं उनके गले मिलकर कुशल पूछ लेना –

दिन दस गएँ बालि पहि जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई।। ६/२१/८

इस प्रकार का वाक्य तो कोई सिद्ध ही बोल सकता है या अति निर्लज्ज, स्वाभिमानरहित व्यक्ति कह सकता है। इसका अर्थ है कि ऐसे अवसर पर हँसनेवाला व्यक्ति या तो पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित है या उसमें स्वाभिमान और लज्जा का सर्वथा अभाव है। रावण ने तो यही अर्थ लगाया। उसने कहा – "अरे बन्दर, तुझे देखकर तो लगता है कि बालि का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि उसे तुझ जैसा निर्लज्ज और स्वाभिमानरहित पुत्र हुआ। अरे, जिसने तेरे पिता का वध किया, तू उसी का समर्थन कर रहा है, अपने पिता पर व्यंग्य कर रहा है और मेरी हँसी उड़ा रहा है। तू तो केवल आकृति से ही नहीं, स्वभाव से भी सचमुच बन्दर ही है। बन्दर जैसे मदारी के द्वारा नचाया जाता है, वैसे ही तू भी नाच रहा है। मदारी कह दे, सलाम कर तो बन्दर सबको सलाम करने लगता है। तू तो पक्का बन्दर है, तुझमें स्वाभिमान जरा भी नहीं, इसीलिये ऐसी बात कर रहा है।"

अंगद ने रावण को जो उत्तर दिया, वह किस बात का परिचायक है? क्या अंगद के हृदय में अपने पिता के लिये रंचमात्र भी सम्मान नहीं है? अंगद ने इसको स्पष्ट कर दिया। अंगद ने कहा – रावण, तुम जिस दृष्टि से इस घटना को देख रहे हो, उस दृष्टि से मैं नहीं देख रहा हूँ।

यहाँ अंगद ने जो सूत्र दिया, वह बड़े महत्त्व का है। उसका अभिप्राय यह है कि यह ममता व्यवहारिक जगत् मे तो चलती है, उपयोगी भी है। यह कहा जा सकता है कि अहंता के स्थान पर ममता आ जाने से व्यक्ति समाज मे बहुत-से कर्म करता है। अपने पुत्र के प्रति, परिवार के प्रति ममता है तो व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, प्रयत्न करता है। ममता उस कर्म की दिशा में प्रेरित करती है। लेकिन अन्ततोगत्वा यही ममता समाज में अनेक समस्याआको जन्म देती है। अब अन्तिम स्थिति क्या है कि व्यक्ति अहंता से – शरीर से ऊपर उठकर थोड़ी ममता को स्वीकार कर ले तो व्यावहारिक लाभ है, पर अन्त में ममता से भी ऊपर उठे, यह सबसे कठिन कार्य है। इसी को गोस्वामीजी दोहावली रामायण में कहते हैं –

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु।। ७९

जब हनुमानजी रावण की सभा में गये तो पहले तो रावण ने उन्हें मृत्यु-दण्ड देना चाहा, पर बाद में विभीषण के कहने से कहा – बन्दर को मारो मत, विभीषण कह रहे हैं तो मृत्यु-दण्ड की जरूरत नही, पर इस बन्दर की पूँछ में कपड़ा लपेटो और उसमें आग लगा दो। राक्षसों ने पूछा – महाराज, आप दण्ड ही देने को कहते हैं तो इस बन्दर की नाक-कान काटने का आदेश दीजिए; पूँछ जला देने की बात आपके मन में क्यों आई? रावण ने कहा – "बन्दर की ममता पूँछ पर होती है –

कपि कें ममता पूँछ पर। ५/२४

इसलिए इसे दु:ख देने के लिये उसकी ममता को ही जला देना चाहिये। जब पूँछ जल जायेगी तब यह अपने प्रभु को ले आयेगा और तब मैं देखूँगा कि इसका स्वामी कितना महान् है।" हनुमानजी ने क्या किया? उन्होंने अपनी पूँछ बढ़ायी। कितनी बढ़ायी? लंका के सारे कपड़े और तेल-घी से भी उनकी पूँछ को पूरी तरह लपेटा नही जा सका, भिगाया नही जा सका। यह बड़े पते की बात है। ममता जहाँ होगी, वहाँ दो चीजें होंगी, कपड़ा और तेल। यह कपड़ा है 'आवरण'। बस, ममता आयी तो ऐसी पट्टी चढ़ी, ऐसा आवरण चढ़ा कि ममता करनेवाले व्यक्ति को फिर कभी सत्य नही दिखाई देता और जहाँ पर ममता होगी, वहाँ पर 'चिपकन' अवश्य होगा। इसलिए कहा कि जहाँ पर अपनत्व होता है, वहाँ पर ये दो बातें जुड़ जाती है। हनुमानजी द्वारा पूँछ को इतना बढ़ा देने का क्या अर्थ है? – यदि ममता ससीम होगी, तो कपड़े से लिपटकर ढँक जायेगी और तेल मे डूब जायेगी, लेकिन यदि ममता को ममता के रूप में रखना ही हो, तो उसे ईश्वर से

जोड़ देना चाहिये। इसका परिणाम क्या होगा? व्यक्ति के प्रति ममता सीमित होती है और ईश्वर के प्रति ममता? ईश्वर असीम है, अत: उसके प्रति ममता भी असीम ही होगी और ममता यदि असीम हो जाय, तो आवरण इसे ढँकने में समर्थ नहीं है। कोई सांसारिक राग भी इसे भिगोने में समर्थ नहीं है। हनुमानजी ने अपनी पूँछ के द्वारा वस्तुत: रावण को यह दिखा दिया – रावण, तुम यही तो कह रहे हो कि बन्दर की पूँछ को जलाकर इसे दुखी कर दो, पर मेरी ममता तो किसी सीमा में है ही नही, वह तो असीम में है। उसे तुम्हारा कोई कपड़ा, कोई आवरण ढँक नहीं सकता। तुम्हारे लंका का सारा घी-तेल उसे भिगो नहीं सकता। रावण बोला – ठीक है, जितना ढँका है, उतने को ही जला दो। पर जलाने का फल क्या हुआ? –

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।। ५/२५

हनुमानजी ने चार सौ कोस की लंका को जला दिया। हनुमान जी का अभिप्राय क्या था? बोले – "रावण मेरी ममता है असीम में और तुम्हारी ममता है चार सौ कोस की लंका में। मेरी लंका, मेरी लंका – तुम यही तो रट लगाये रहते हो। यह ममता है। देखो, जो असीम में ममता है वह तो जलने से बॅच गयी और जो ससीम में ममता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने एक बड़े ही विचित्र शब्द का प्रयोग किया। लंका में जितने घर हैं, उनको उन्होने मन्दिर लिखा। वैसे शब्दकोष में मन्दिर घर को भी कहते हैं, पर गोस्वामीजी घर के लिये कहीं कही मन्दिर, कहीं भवन, कहीं घर लिख देते तो दूसरी वात होती, पर उन्होंने लंका के घरो के लिये केवल मन्दिर शब्द का ही प्रयोग किया –

मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।
गयउ दसानन मंदिर माहीं।
अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं।।
सयन किएँ देखा कपि तेही।
मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।। ५/५/५-७

भवन के लिये हर बार मन्दिर शब्द का प्रयोग हुआ है, पर जिसमे विभीषण जी रहते है उसे भवन कहा –

भवन एक पुनि दीख सुहावा। ५/५/८

सारे राक्षस रहते है मन्दिर में। मन्दिर शब्द रूढ़ अर्थो मे उसे कहते है, जहाँ देवता रहते है और जहाँ विभीषण रहते हैं, वह घर है। पर इतना ही नहीं, जब हनुमान जी लंका जलाने लगे तो गोस्वामीजी को वही शब्द याद रहा। हनुमानजी किसको जला रहे हैं? सारे मन्दिरो को जला रहे है, पर विभीषण का घर नही जलाया –

मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई।
एक बिभीषन कर गृह नाहीं।। ५/२६/१,६

इसमें एक बहुत बड़ा व्यंग्य है। मन्दिर माने जहाँ किसी देवता की पूजा हो रही हो। वह देवता कौन है? पूजा या तो चैतन्य-तत्त्व की होगी या फिर जिस देवता की पूजा लंका में चलती है, वह यदि हम लोग अपने जीवन की ओर देखें, तो दिखाई दे जायेगी। हम लोगो के मन्दिर का देवता कौन है? लंका के मन्दिरों का देवता तो शरीर है और उस शरीर-देवता की सेवा-पूजा करना लंका का नित्य-निरन्तर का कार्य है। शरीर की पूजा जिस मन्दिर मे भोगो के द्वारा होती है, वही पूजा हम लोग अपने जीवन में नित्य-निरन्तर चौबीस घण्टे करते रहते हैं। यह हम लोगों के जीवन में भी चल रहा है।

दूसरी ओर लक्ष्मण जी भगवान राम की सेवा किस तरह से कर रहे हैं? गोस्वामीजी को कहते हैं कि हम लोगो से अधिक सेवा नहीं कर रहे हैं। कैसे? – जैसे अज्ञानी व्यक्ति शरीर की पूजा करता है, वैसे ही लक्ष्मणजी श्रीराम की सेवा कर रहे हैं –

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।। २/१४२/२

लंका का हर व्यक्ति रात-दिन देह की ही पूजा में लगा है। अब हनुमानजी ने सारी लंका को जला क्यों दिया? गोस्वामीजी ने जीवन के सत्य को प्रगट कर दिया कि देह-देवता की आप चाहे जीवन भर पूजा कीजिए, पर अन्त में उसको जलाना ही पड़ेगा। जलाने को छोड़कर उस देवता की अन्तिम परिणति और कुछ नहीं है। इस प्रकार हनुमानजी लंका को जलाकर जीवन के उस सत्य को उद्घाटित कर देते हैं।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि या तो देवता राम हैं या शरीर। गोस्वामीजी कहते है, या तो ममता का त्याग करो या ममता श्रीराम से करो –

कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु।। दोहा. ७९

ऐसी स्थिति मे अंगद की विशेषता क्या है? अंगद का हाथ पकड़कर बालि ने श्रीराम से कहा था कि आप अंगद का हाथ पकड़ लीजिए। यहां पर हमे अन्तिम क्षणों मे बालि की चतुराई का परिचय मिलता है और यह चतुराई पूरे जीवन भर अंगद को उत्तराधिकार के रूप मे मिली रही। अंगद को बुलाकर बालि यह भी कह सकता था कि प्रभु के चरणों को कसकर पकड़ लो, पर यह बिल्कुल नही कहा, बल्कि भगवान से कहा – महाराज, आप इसका हाथ पकड़ लीजिए। अंगद से क्यों नही कहा कि चरण पकड़ लो? बालि का तात्पर्य यह था – महाराज, यदि जीव पकड़ेगा तो छोड़ भी सकता है, पर आप पकड़ेंगे तो छूटने का डर नहीं है। इसलिए हम अंगद से क्यों कहें कि यह आपको पकड़े, हम तो आप से ही कहेंगे कि आप अंगद को पकड़ लीजिए –

गहि बाँह सुर नर नाह
आपन दास अंगद कीजिए।।४/१०/छं

यदि अंगद को यह लगता कि बालि मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ, मेरा जन्म उनसे हुआ है और मेरे पिता को मारने वाला मेरा शत्रु है, तब तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होती, पर वे सचमुच ही देहाभिमान से ऊपर उठे हुए थे, देह की ममता से मुक्त हो चुके थे। उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ रावण से कहा – मैं समझ गया, तुम बड़े राजनीतिज्ञ की तरह मुझे राम से अलग करना चाहते हो, लेकिन मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि राम को मैंने एक व्यक्ति की तरह कभी नहीं देखा –

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें ।
श्री रघुबीर हृदय नहि जाकें ।। ६/२१/१०

"श्रीराम कोई व्यक्ति नहीं हैं। वे तो अन्तरात्मा के रूप में सभी प्राणियों के अन्तर में निवास करते हैं। बालि के साथ मेरा उतना लगाव नहीं हो सकता, जितना राम के साथ। तात्पर्य यह कि शरीर का नाता तो एक जन्म का है, पर ईश्वर का नाता तो शाश्वत है। अत: मैं इस दृष्टि से नहीं देखता कि इस राम ने मेरे पिता का वध किया। यदि मेरे पिता का वध हुआ तो दु:ख मेरे पिता को होना चाहिये था, पर जब पिता के सामने यह प्रश्न आया कि वे जीवित रहना चाहते हैं कि मरना चाहेंगे, तो उन्होंने मृत्यु का वरण किया। अब कल्पना करो कि मृत्यु उनको कितनी सुखदाई लगी होगी? उन्हें श्रीराम के हाथों से मरना जीवन से भी अधिक हितकर लगा। रावण, तुम मुझे राम से अलग नहीं कर सकते।"

तात्पर्य यह कि अंगद के मन में श्रीराम के प्रति कभी रंचमात्र भी उलाहना की बात नहीं आई। श्रीराम के ईश्वरत्व के प्रति उनकी आस्था अगाध थी। पर दूसरी ओर उनकी दुर्बलता, जिससे ऊपर वे उठ नहीं पाते, वह यह है कि जहाँ श्रीराम के कार्य के प्रति उन्हें आपत्ति नहीं है, वहाँ सुग्रीव के प्रति उनके मन में पूरा सम्मान नहीं आ पाता, क्योंकि उनको सुग्रीव में कमी दिखाई देती है। श्रीराम ईश्वर हैं और उन्होंने सुग्रीव को अपना लिया है, इसलिए भले ही वे सुग्रीव के विरोध में कुछ भी नही कहते, पर सुग्रीव के प्रति सद्भावना भी नहीं बना पाते। उन्हें लगता है कि सुग्रीव न तो भक्त है, न ज्ञानी, केवल स्वार्थी है। यह बात अंगद के मन की गहराई में बैठ गई थी। भगवान चाहते थे कि उनके मन की यह ग्रन्थि दूर हो, अंगद और सुग्रीव की दूरी मिटे और उनमें सामंजस्य स्थापित हो। बाहर से तो ऐसा लग रहा था कि वह दूरी मिट रही है, पर भीतर से वे मिल नहीं पाते। इसके पीछे अंगद की जो भावना थी, वह प्रगट हुई समुद्र के किनारे। एक महीना बीत गया, सीताजी का कुछ भी पता नहीं चला, तब बन्दरों ने अंगद से कहा – अब तो हम लोगों की मृत्यु निश्चित है। इस पर अंगद ने कहा – आप लोगों की मृत्यु होगी या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मेरी मृत्यु तो अवश्य होगी। क्योंकि – अगर सुग्रीव का वश चलता तो वह पिता की मृत्यु के बाद मुझे भी मार देता, पर इसलिए नहीं मार पाया, क्योंकि –

पिता वधे पर मारत मोही ।
राखा राम निहोर न ओही ।। ४/२६/५

वहाँ पर भी उन्हें श्रीराम में गुण तो दिखाई दे रहा है, पर सुग्रीव में नहीं। बचानेवाले तो श्रीराम हैं, पर सुग्रीव तो मन-ही-मन मुझसे विद्वेष रखते हैं। वे अवसर की तलाश में रहते हैं कि कब इसे मिटा दें। यह जो एक संस्कार अंगद के मन में सुग्रीव के व्यवहार के कारण बना हुआ है, इससे वे उबर नहीं पाते। उसी कार्य के लिये जहाँ वे श्रीराम में गुण देखते हैं, वहाँ उन्हें सुग्रीव में दोष दिखाई देता है। भगवान राम यह चाहते थे कि इस ग्रन्थि का निवारण हो और अन्ततः उन्होंने इसका निवारण किया। वह दोहा आपको याद होगा, जो मैंने पिछले दिन की कथा के प्रारम्भ में कहा था –

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ।।७/१८

भगवान राम जब अंगद को अयोध्या से विदा करने लगे, तब उन्होंने प्रार्थना की कि वे उन्हें अयोध्या में ही अपनी सेवा में रख लें। प्रभु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और बोले – तुम किष्किंधा जाओ, अवश्य जाओ, यही उचित है और वहाँ युवराज के रूप में राज्य चलाओ। उस समय अंगद की हिचकिचाहट देखकर भगवान को लगा कि इसकी वह मनोग्रन्थि मिट नहीं रही है कि सुग्रीव मेरे विरोधी है और उसे मिटाये बिना, इन दोनों को मिलाये बिना समग्रता नहीं आयेगी। अत: भगवान ने अंगद को विदा तो किया, पर उसके पहले उन्होंने अपने गले की माला निकालकर अंगद के गले में पहना दी –

निज उर माल बसन मनि
बालितनय पहिराइ ।। ७/१८-ख

इसका क्या अभिप्राय है? मानो प्रभु ने कहा – "अंगद, घबराओ मत, तुम्हारे मन में यह जो ग्रन्थि है कि सुग्रीव तुम्हें दण्ड देने के लिये मौके की खोज में रहेंगे, पर विश्वास रखो, तुम्हारे गले में यह मेरी माला देखते ही सुग्रीव को सारी बातें याद आ जायेंगी। बालि और सुग्रीव का जब युद्ध हुआ था, तो तुम्हारे पिता को चेतावनी देने के लिये मैंने सुग्रीव को माला पहनाई थी और आज तुम्हें भी पहना रहा हूँ। सुग्रीव से बढ़कर भला इस माला का चमत्कार कौन जानता है? इसलिए तुम विश्वास रखो, यह ऐसा सूत्र है, जिसके आधार पर सुग्रीव दूर नहीं हो सकते। देह के नाते से तुम्हारी दूरी बनी रहेगी, पर मेरे नाते जब जब तुम नाता जोड़ोगे कि तुम मेरे प्रिय भक्त हो और सुग्रीव भी मेरा प्रिय सखा है, इस नाते से तुम्हारा यह चाचा-भतीजे का संस्कार मिटेगा, तुम्हारी आपसी दूरी मिटेगी। इसीलिये भगवान चाहते हैं कि सुग्रीव राज्य करें और अंगद युवराज पद पर रहें। जीवन में ऐसा सामंजस्य स्थापित हो, यही भगवान का उद्देश्य है।

❖ (क्रमश:) ❖

जीने की कला (१२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

संसार कराह रहा है!

भारत की वर्तमान दुरवस्था के लिये लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली का भी योगदान रहा है। लोकतंत्र कोई बेदाग प्रणाली नहीं है। आज का हर शिक्षित व्यक्ति यह सोचने को विवश है कि भारत का लोकतंत्र, नागरिक जीवन के यथेष्ट प्रशिक्षण एवं तैयारी के अभाव में विकृत होकर अपना घृणित रूप दिखा रहा है। 'एक व्यक्ति एक वोट' के नारे में मानव की समता के सिद्धान्त में विश्वास व्यक्त होता है। यह बिल्कुल उचित है कि उन्नति करने में सबको समान अवसर मिलने चाहिये। परन्तु यह व्यवहार में कैसे आये? कुछ पुराने चिन्तकों का कहना था कि 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व' – फ्रांसीसी क्रान्ति का यह नारा व्यवहार में कैसा विकृत हो गया है। अनेक लोगों के लिये स्वतंत्रता का अर्थ है – 'यथेच्छाचार की स्वाधीनता'; समानता का अर्थ है – 'मुझसे अच्छा कोई नहीं' और बन्धुत्व का तात्पर्य है – 'जरूरत पड़ने पर आपकी वस्तु मेरी है'।

आर्थिक समानता और विधि के समक्ष समानता लोगों के ऊपर बलपूर्वक लागू किये जा सकते हैं। परन्तु बुद्धि, मनोबल, समझदारी, विचारों की मौलिकता, निर्णय-शक्ति और नैतिक सत्यनिष्ठा के मामले में भी क्या लोगों के बीच सच्ची समानता है? स्पष्ट शब्दों में कहें, तो इस संसार में पूर्ण सज्जन के रूप में अनिन्द्य छवि रखनेवाले अधिकांश लोग अपने अशान्त मन को संयमित कर पाने में असमर्थ हैं। इन्द्रिय सुख-भोगों में आसक्त हेय लोग आमोद-प्रमोद, सुख और लिप्तता के सभी विषयों को अपनी पाशविक संस्कृति के स्तर पर उतार लाते हैं। मीडिया के लोग, सिने-निर्माता, लेखक, नाटक तथा सिने-अभिनेता, होटल-मालिक आदि सत्य, न्याय और शिष्टाचार के सभी सिद्धान्तों को ताक पर रखकर लोगों से धन कमाने का प्रयास करते हैं। सत्तालोलुप राजनेता अपने वोट पाने के लिए इन लोगों की ताल पर नाचते रहते हैं। सत्तासीन और विपक्षी दल अपने अनुसार न चलनेवाले लोगों के खिलाफ हर प्रकार के घटिया दुष्प्रचार करते हैं। राजनीतिज्ञ लोग आपस में ही कीचड़ उछालते हुए स्वयं सद्भाव एवं सद्विचार से रहित होकर लोगों की सद्भावना को नष्ट करते हैं। इसी कारण, अपने मन में व्यक्ति के चरित्र-गठन और समग्र समाज के कल्याण का विचार रखनेवाले उन निःस्वार्थ और महान् लोगों की अपील अरण्य-रोदन मात्र बनकर रह जाती है।

गीता में काम, क्रोध और लोभ – इन तीनों को नरक के द्वार बताया गया है। अपने धर्म-विरोधी विचार के साथ आज का भौतिकवादी दर्शन इन दुष्प्रवृत्तियों को हवा देता रहा है। आइंस्टीन के शब्द स्मरणीय हैं, "विज्ञान प्लूटोनियम को तो शुद्ध कर सकता है, पर मानव-हृदय की दुष्टता को नहीं।"

श्रद्धा या विश्वास ही दवा है

१९वीं शताब्दी के शुरू में विज्ञान का झंझावात भारत की ओर बहने लगा। जैसे पाश्चात्य वैज्ञानिक-प्रवृत्ति-सम्पन्न लोग अपने धार्मिक नेताओं की आलोचना कर रहे थे, ठीक वैसे ही इस देश के तथाकथित शिक्षित लोग भी उन्हीं के नारों को दुहरा रहे थे। वस्तुतः भारतीय धर्म सच्चे वैज्ञानिक चिन्तन का कभी भी विरोधी नही था। धर्म की सीमाओं के भीतर रहकर मर्यादित सुखों की यहाँ के धर्मशास्त्र कभी निन्दा नहीं करते थे। यहाँ सत्यानुसंधान और उसकी अनुभूति की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से विकसित हो चुकी थी। हमारे ऋषि-मुनियों ने आत्मा, ईश्वर और ब्रह्माण्ड के सत्यों तथा मनुष्य के हृदय के अन्तर्जगत् की खोज करके इनके बीच एक-दूसरे से सम्बन्ध का आविष्कार कर लिया था। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि वेदान्त में पाये जानेवाले सार्वभौमिक सत्य आधुनिक विज्ञान की चुनौतियों का सामना कर सकते हैं और मानवता को प्रगति और शान्ति के पथ पर आगे बढ़ा सकते हैं। उन्होंने व्यावहारिक जीवन-दर्शन का उपदेश दिया, जिसका किसी खास धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह व्यक्ति के बहुमुखी विकास तथा समाज, राष्ट्र का हित साधित कर सकता था। उनकी मान्यताएँ हैं – समग्र ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक एकता, धार्मिक सामंजस्य का दर्शन, आत्मा की दिव्यता तथा मानव मात्र में ईश्वर की सेवा। वे भारतीय स्वाधीनता के पूर्वकाल के एक महान् देशभक्त और आध्यात्मिक आचार्य थे। उन्होंने देश से गरीबी उन्मूलन और देशसेवा में आत्मोत्सर्ग हेतु युवाओं में प्रेरणा का संचार किया। डॉ. आर. सी. मजुमदार अपनी पुस्तक 'भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के तीन रूप' में लिखते हैं, "अब यह एक सुविदित तथ्य है कि बंगाल के सैकड़ों युवा क्रान्तिकारी स्वामी विवेकानन्द के सन्देश से प्रेरित थे और उन्होंने अपने अधरों पर 'वन्देमातरम्' और हृदय में विवेकानन्द की शिक्षाओं को धारण कर दुःख-कष्टों और मृत्यु का सहर्ष आलिंगन किया।" किसी को भी यह नहीं भूलना चाहिये कि विवेकानन्द को इस कठिन काम में सहायता देनेवाला उनका अथाह ज्ञान था जिसकी आधारशिला आध्यात्मिक थी। परवर्ती दिनों में, गाँधीजी

स्वयमेव आध्यात्मिकता पर आधारित एकीकृत जीवन के एक नमूना बन गये और देश की नि:स्वार्थ सेवा का सन्देश दिया।

पाश्चात्य वैज्ञानिक विकास से मोहित और पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण करने के इच्छुक लोगों को इस शताब्दी के प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द ने निम्नलिखित चेतावनी दी थी। यह सत्य है कि सामाजिक और आर्थिक तौर पर पिछड़े लोगों को भौतिक सुख-भोग हेतु कुछ हद तक अवसरों तथा अधिकारों की जरूरत है। थोड़ा सुखमय जीवन बिताने के बाद व्यक्ति में नि:स्वार्थता का सद्‌गुण स्वाभाविक रूप से ही आ जाता है। सम्भवत: यहाँ हम पाश्चात्य लोगों से कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु हमें बहुत सतर्क रहना होगा। हमें थोड़े दु:ख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि पाश्चात्य आदर्शों को समझ लेने का दावा करनेवाले अधिकांश लोगों ने हमारे समाज को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचायी है। वैज्ञानिक विचार, चीजों के बेहतर उपयोग करने का तरीका और सामूहिक रूप से कार्य करने के क्षेत्र में हम उन लोगों से सीख सकते हैं। परन्तु यदि कोई कहे कि खाना-पीना और नाच-गान अर्थात् इन्द्रियों का सुख-भोग ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, तो वह मिथ्यावादी है। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी और पाश्चात्य सभ्यता, चकाचौंध-भरी तथा प्रभावकारी हो सकती है, परन्तु वैसा जीवन तुच्छ और निस्सार है। अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को कदापि मत छोड़ो। पृथ्वी पर एकमात्र यही चिरस्थायी वस्तु है। इसका अर्थ यह नहीं कि राजनैतिक और सामाजिक मुद्दो जैसे अन्य मामलों की कोई जरूरत नहीं। परन्तु उन्हीं पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना वांछनीय नहीं है। उन्हें हमारी चिन्ता का मूल-बिन्दु नही बनना है। भारतीयों के लिये धर्म ही सब कुछ है। यदि वह चला गया तो हमारा देश पूरी तौर से नष्ट हो जायेगा। आप हर व्यक्ति को कुबेर का खजाना दे सकते हैं, चाहे जितने सामाजिक सुधार कर सकते हैं, परन्तु आध्यात्मिक जीवन के बिना भारत जीवित नहीं रहेगा।

यह धारणा गलत है कि भारत में केवल धर्माचार्य ही धर्म या आध्यात्मिक जीवन के आदर्श की घोषणा करते हैं। समग्र संसार के इतिहास का विश्लेषण करने वाले टॉयन्बी भी यही कहते है, "राजनीतिक और आर्थिक मामलों में अत्यधिक बल देना और जीवन के अन्य सभी आदर्शो को उनके अधीन रखना – इसी कारण सभी सभ्यताएँ पतनोन्मुख हुईं। जो भाव धार्मिक कट्टरवादिता पर एक आक्रमण के रूप में शुरू हुआ था, वह अब आध्यात्मिक अग्नि को ही बुझा चुका है। यह पतन सत्रहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ, बीसवीं शताब्दी में इसने अपनी जड़ जमा लीं और अब यह विशाल पाश्चात्य समुदाय के सभी हिस्सो में फैल चुका है। धीरे धीरे वे लोग इस खतरे के प्रति सजग हो रहे हैं। यह खतरा न केवल पश्चिमी समाज के आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये, अपितु इसके भौतिक अस्तित्व के लिये भी घातक है। वस्तुत: लोग अनुभव कर रहे हैं कि यह धर्म विरोधी रुख किसी भयानक राजनीतिक या आर्थिक उथल-पुथल से भी अधिक घातक हो सकता है।"

वैज्ञानिकों का समर्थन

यहाँ तक कि वैज्ञानिक लोग भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के अभाव में समाज का विघटन अवश्यम्भावी है।

महान् विचारक बर्ट्रेंड रसेल ने कहा था, "विज्ञान की प्रत्येक खोज मानवमात्र के लिये एक दुर्भाग्य सिद्ध होती जा रही है। यदि प्रौद्योगिकीय कुशलता के साथ विवेक का भी विकास न हो, तो विश्व निश्चय ही दु:ख की ओर बढ़ेगा।"

अलेक्सिस कैरल का कहना है, "आधुनिक सभ्यता मानवता को रास नहीं आती। यह मानव-जाति की सच्ची प्रकृति को जाने बिना बनाई गयी एक इमारत के समान है। इसका कोई निश्चित लक्ष्य या प्रयोजन नही है। यह मानवता के सर्वांगीण विकास की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर काम नही करती। वैज्ञानिक प्रयोग हमें कहाँ ले जा रहे है – यह जानने का प्रयास किये बिना ही उनमें लगे रहने का क्या मतलब है? विज्ञान के असीमित खजाने से जो कुछ हम चुनते हैं, वह मानवता की उन्नति हेतु हमारी चिन्ता पर आधारित नहीं होता। हमे जो कुछ अच्छा और सुविधाजनक लगा, हमने उसी का विकास किया। हमने कभी पल भर भी ठहर कर यह नहीं सोचा कि इसका मानव-जाति पर क्या प्रभाव होगा। ...मानव-जाति को अत्यधिक अवकाश प्रदान करके वैज्ञानिक सभ्यता ने बड़े दुर्भाग्य को जन्म दिया है। तकनीकी क्रान्ति की कीमत शायद हमे मानसिक दुर्बलता, मनोविकृति और उन्माद के रूप में चुकानी होगी।"

लेकाम द' नोई ने कहा था, "जो सभ्यता पूरी तौर से यंत्रों के विकास तथा प्रौद्योगिकी कुशलता पर निर्भरशील है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। मानव-इतिहास मे पहली बार कोरी बुद्धि और नैतिक मूल्यों के बीच यह संघर्ष छिड़ा है कि दोनों में से कौन बचेगा और कौन नष्ट हो जायेगा।"

सोरोकिन का कहना है, "विज्ञान और प्रायोगिक विज्ञान के फलों का घोर दुरुपयोग हुआ है। अणुबम की सर्वनाशी शक्ति का भय भविष्य के युद्धो पर विराम लगा देगा – यह धारणा उतनी ही मूर्खतापूर्ण है, जितना कि यह मिथल कि कोई प्रेत जितना ही अधिक दुष्प्रवृत्तियों से युक्त होगा, उतना ही दिव्य होता जायेगा। मनुष्य का आर्थिक विकास मानवता को उसी के अनुरूप नैतिक-चरित्र के विकास की ओर ले जाता है – इस धारणा का मिथ्यात्व काफी पहले ही असन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो चुका है।" आज के मनोवैज्ञानिक जोर देकर कहते है कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन, मानसिक सन्तुलन एवं स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये धर्म या धर्म के आदर्श जरूरी हैं।

मनोविकृति के अनेक मामलों के अध्ययन तथा उपचार करनेवाले सी. जी. युंग ने कहा था, "पैंतीस वर्ष की आयु से अधिक के मेरे सभी रोगियों का कोई धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं था। किसी प्रकार का धार्मिक दृष्टिकोण रखने पर वे रोगमुक्त हो जाते। इसका एक भी अपवाद नहीं था। दुर्भाग्यवश, फ्रायड ने इस बात पर जोर नहीं दिया कि मनुष्य जीवन की समस्याओं और संसार की बुरी शक्तियों का अकेले ही मुकाबला नहीं कर सकता। धर्म प्रदत्त सम्बल सदैव आवश्यक है। यह मनुष्य को निराशा के दलदल से उबार सकता है।"

नेताओं का दृष्टिकोण

कुछ लोग पूछ सकते हैं कि यहाँ ऐसे विस्तृत उद्धरण क्यों दिये गये हैं? प्रश्न उचित है। आध्यात्मिक आदर्शों में पहले से ही दृढ़ श्रद्धा रखनेवालों को इनकी कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु यह आधुनिक काल के ऐसे शिक्षित लोगों को सच्चाई का स्पष्ट रूप से बोध कराने के लिए है, जो एक तो धर्मभाव से रहित हैं और दूसरे वे धर्म पर आक्रमण को अपनी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक मानते हैं। आज के शिक्षित वर्ग ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है। राष्ट्र के राजनैतिक क्रिया-कलाप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भौतिकवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हो गये हैं। हमारे नेताओं और देशभक्तों ने भारत की स्वाधीनता के पूर्व काल में देश को आजाद कराने के लिये अपनी जान की बाजी लगा दी थी, ताकि देश की धर्म और संस्कृति सुरक्षित और कायम रह सके। पर आजादी मिलने के बाद क्या हुआ? हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व करनेवाले तथा स्वाधीनता-आन्दोलन में भाग लेनेवाले राष्ट्रनेताओं के मन में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के प्रति नि:सन्देह बड़ा आदर भाव था, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वे लोग किसी धार्मिक या आध्यात्मिक विश्वास से रहित थे। उन दिनों देश की बागडोर सँभालनें वाले वरिष्ठ नेताओं के विषय में श्री मस्ती वेंकटेश अयंगार बड़े तटस्थ भाव से लिखते हैं, "हमने आजादी की लालसा क्यों रखी? भारत के पास अपना निजी चरित्र, अपनी विशिष्ट संस्कृति है। कोई पराधीन देश अपने मूलभाव का विकास नहीं कर सकता। यदि हमारे देश को सभी क्षेत्रों में अपना विकास करना था, तो हमें राष्ट्रीय जीवन का गठन करना ही था। मात्र इसी प्रयोजन से हमारे नेताओं ने राजनैतिक आजादी हेतु संघर्ष किया। राजनैतिक रूप से स्वाधीन किसी देश का इससे भी अधिक हित तब होता, जब वह सांस्कृतिक स्वाधीनता की प्राप्ति कर लेता। परन्तु हमारे दुर्भाग्य ने ऐसा होने नहीं दिया।"

गाँधीजी का यह प्रस्ताव था कि देश की स्वाधीनता दिलाने वाली काँग्रेस पार्टी को राजनैतिक दल के रूप में बने रहकर देश पर शासन नहीं चलाना चाहिये। परन्तु हमारे नेताओं ने गाँधीजी के इस परामर्श को अनसुना कर दिया। काँग्रेस सत्ता में आयी और पण्डित जवाहर लाल नेहरू भारत के प्रधानमंत्री बने। नेहरू एक कुलीन परिवार में जन्मे थे। वे स्वभावत: एक आदर्शवादी थे। इंग्लैंड में शिक्षित होने के कारण वे उस समय के उदारवादी राजनैतिक चिन्तकों से प्रभावित थे। प्राय: एक साम्यवादी तंत्र से सहानुभूतिभाव रखकर वे अपने देश वापस आ गये। वे व्यापक तौर पर लोगों के जीवन के अभावों के प्रति संवेदनशील थे। जन्म से हिन्दू होने पर भी हिन्दू धर्म में उनका विश्वास नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के नेता के रूप में, वस्तुत: वे महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ के रूप में काम करते थे, परन्तु गाँधीजी के जीवन को प्रेरित करनेवाली भावनाओं और विचारों के लिये उनके मन में कोई जगह नहीं थी। गाँधीजी कहा करते थे, "यह संसार ईश्वर नामक एक दिव्य शक्ति से संचालित होता है।" जवाहरलाल नेहरू का ईश्वर से कोई प्रयोजन नहीं था। महात्मा गाँधी ने कहा था, "मैं हिन्दू हूँ। मैं हिन्दू धर्म का आचरण इसलिये करता हूँ क्योंकि यह किसी अन्य धर्म का खण्डन नहीं करता। इसमें सभी धर्मों का सार समाहित है।" जवाहरलाल का हिन्दू धर्म से कोई गहरा परिचय नहीं था। महात्मा गाँधी प्रतिदिन संध्या को एक प्रार्थना-सभा का आयोजन किया करते थे। पता नहीं पं. नेहरू प्रार्थना को उपादेय समझते थे या नहीं। महात्मा गाँधी ने जनभावनाओं को समझकर, जनता के कल्याण हेतु कार्य करनेवाली राजनैतिक प्रणाली को 'रामराज्य' कहा। जब एक बार किसी ने रामराज्य की ओर संकेत किया, तो नेहरू ने कहा था, "रामराज्य क्या है? मैं उसे नहीं जानता।" कभी कभी पाश्चात्य चिन्तक बौद्ध धर्म की यह कहकर प्रशंसा करते हैं कि वह बौद्धिक रूप से विश्वसनीय एकमात्र धर्म है। जवाहरलाल नेहरू बुद्धिवादी थे। उन्होंने इसे बिल्कुल उपयुक्त पाया होगा। उनके मतानुसार मानो बुद्ध के आविर्भाव से ही भारत का इतिहास प्रारम्भ हुआ। इसलिये सारनाथ का सिंह-स्तम्भ हमारा राष्ट्रीय प्रतीक है और राष्ट्रीय ध्वज के मध्य में अशोक-चक्र है। जब संविधान सभा ने भारत की स्वाधीनता दिलाने के लिये भगवान को धन्यवाद देने का प्रस्ताव रखने का विचार किया, तो पं. नेहरू को वह विचार पसन्द नहीं आया और वह विचार त्याग दिया गया। गाँधीजी को राष्ट्रपिता इसलिए कहा गया क्योंकि उन्होंने राष्ट्रसेवा में ही अपना जीवन अर्पित कर दिया था। गाँधीजी का यह विश्वास था कि ईश्वर की सत्ता है और राम ईश्वर के ही एक रूप हैं। पर गाँधीजी के इस विचार के लिये भारत के संविधान में कोई जगह नहीं थी।

आज भी भारतीय जनता ने ईश्वर के विचार को नहीं त्यागा है। ऐसा नहीं है कि इस विचार ने हमेशा मानवता का भला ही किया हो। तथापि अधिकांश भारतीय जनता ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करती है। पं. नेहरू देश के नेता बन गये, फिर भी उन्होंने जनता के इस विचार का सम्मान नहीं किया।

पं. नेहरू एक आदर्शवादी व्यक्ति थे, जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखे बिना भी ईमानदार और सत्यनिष्ठ रह सकते थे। कुल मिलाकर वे अपनी कथनी के अनुसार खरा जीवन बिताते थे। परन्तु कोरा आदर्शवाद प्रशासन को उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता। प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू के साथ कई अन्य राष्ट्रीद नेता भी थे, परन्तु सबके विचार आपस में मेल नहीं खाते थे। काँग्रेस में कार्य कर चुके कुछ नेताओं को भय था कि पं. नेहरू के नेतृत्व में कुछ समय बाद भारत में हिन्दुओं की स्थिति बिगड़ जायेगी। अत: उन लोगों ने हिन्दू महासभा नामक एक संगठन बनाया। राजाजी (राजगोपालाचारी) ने पं. नेहरू का साथ छोड़कर अपना एक नया दल बना लिया। यद्यपि बल्लभभाई पटेल ने उनका साथ नहीं छोड़ा, तथापि दोनों में वैचारिक मतभेद थे। सन् १९६४ में पं. नेहरू दिवंगत हो गये और काँग्रेस विभाजित हो गयी। बाद में कई विभाजनों के बाद काँग्रेस छ: धड़ों में बँट गयी। पं. नेहरू के जीवित रहते समय लोग अपने व्यवहार से उन्हें अप्रसन्न करने में संकोच किया करते थे, क्योंकि लोग उनकी सत्यनिष्ठा का आदर करते थे। पं. नेहरू की मृत्यु के बाद अब उन्हें गलत कार्यों से कोई भय-संकोच नहीं रह गया। अतीत काल में लोग इस बात से डरा करते थे कि कुछ गलत कार्य करने पर भगवान उन्हें दण्ड देंगे। वे अपने कार्यों में सतर्क रहा करते थे। प्राय: एक उपदेवता के समान माने जानेवाले पं. नेहरू की मृत्यु के बाद हमारे राजनेताओं ने बेरोक-टोक यथेच्छाचार शुरू कर दिया। वैसे उनमें कुछ भले लोग भी थे, परन्तु बाकी लोग वैसे न थे। कुल मिलाकर राष्ट्रीय जीवन में ऐसा ह्रास आया, जिसकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की गयी थी।

ईसाई और मुसलमान भाइयों के नेतागण स्वाभाविक तौर पर अपने धर्म और संस्कृति से गर्वित थे और अपने विश्वास या पन्थ की रक्षा करने का भाव अपने अनुयाइयों में फैलाने हेतु कटिबद्ध थे। परन्तु भारत एक ऐसा देश है, जहाँ सम्राट् अशोक ने धार्मिक सद्भाव का सन्देश फैलाया। परन्तु भारत के बहुसंख्यक हिन्दुओं को विद्यालयों में उनके धर्म की शिक्षा देने हेतु सरकार से कोई आर्थिक सहायता इस आधार पर नहीं मिली, क्योंकि हमारी सरकार धर्मनिरपेक्ष थी। श्री एच. बी. कामथ ने एक बार दु:ख व्यक्त करते हुए कहा था, "राजकीय अनुदान प्राप्त करनेवाले शैक्षणिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षण पर रोक लगानेवाले अनुच्छेद २८ के पारित होते समय मैंने एक संशोधन प्रस्तुत किया था कि 'नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षण' पर यह रोक लागू न होनी चाहिए। पर इसे नामंजूर कर दिया गया और मैं अपना मन मसोस कर रह गया। यह भविष्य के लिये घातक सिद्ध हुआ। भारत के राजनीतिक जागरण के पूर्व एक ज्योतिर्मय धार्मिक-आध्यात्मिक पुनर्जागरण हुआ था। वस्तुत: इसी पुनर्जागरण ने हमारे स्वाधीनता-संघर्ष को आधार तथा नींव प्रदान किया। यदि हमारी लोकतांत्रिक राज-व्यवस्था नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से अनुप्राणित होती रहती, तो हमारा सब कुछ ठीक चलता रहता।"

जड़ पर कुठाराघात

हमें अपने धर्म और संस्कृति के उदात्त विचारों को समाज के उन पिछड़े वर्गों में फैलाना चाहिए था, जो कई शताब्दियों से उसका लाभ प्राप्त कर पाने से वंचित रहे हैं। यह कैसी विसंगति है कि हमारे अपने नेतागण ही इस प्रस्ताव पर गला फाड़कर चिल्ला पड़े थे – "हम धर्म और कर्मवाद के विचारों से धोखा खा चुके हैं। धर्म में छल-कपट, अन्धविश्वास और शोषण के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद की दुहाई देते हुए जनता को उदात्त नैतिक और आध्यात्मिक विचारों से परिचित होने के अवसर से वंचित करके ये नेतागण स्वयं ही दलित जनता के शोषण के साधन बन गये। यद्यपि हिन्दू समाज में एकता स्थापित करने का तब एक स्वर्णिम अवसर था, परन्तु उसे समृद्ध करने के बजाय, कतिपय लोगों के निहित स्वार्थों के कारण अप्रत्यक्ष रूप से क्रूरतम प्रकार की कृषि दासता की ओर अग्रसर करनेवाले एक विनाशकारी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया गया था। अपने निजी धर्ममत के प्रचार-प्रसार और अन्य धर्मों के असली रूप दिखाने में लगे हुए कुछ धर्मों के अनुयायी अपने बन्धुओं में एक भयावह राजनैतिक भावना का संचार करने और धर्म-परिवर्तनों के जरिये अपने वर्ग की शक्ति को बढ़ाने में लगे रहे। इस प्रकार वे सरकार से विभिन्न प्रकार के विशेषाधिकारों तथा लाभों को प्राप्त करने में सफल रहे। हमारे नेताओं की दूरदर्शिता की कमी के कारण हमारे देश की जनता के धार्मिक विश्वास कमजोर होते गये और इसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर हिन्दू जनता के बीच आन्तरिक फूट को प्रोत्साहित किया। राष्ट्रीय हित को ताक पर रखकर ये नेतागण विशुद्ध निजी स्वार्थ-साधन में डूबे रहे। धर्म तथा सांस्कृतिक मूल्यों की बलि चढ़ाकर उन्होंने सामाजिक संरचना की प्राणशक्ति को ही निस्तेज करके राष्ट्रीय इमारत की संरचना को ध्वस्त कर दिया।

❖ (क्रमश:) ❖

हितोपदेश की कथाएँ (२)

('पंचतंत्र' पशु-कथाओं के द्वारा नीति-शिक्षण का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की कथाएँ क्रमश: ईरान, सीरिया तथा अरब देशों से होती हुई यूरोप पहुँचीं। ५३३ ई. के बाद से विश्व की विविध भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद मिलते हैं। १४वी शताब्दी में नारायण पण्डित ने उसी का आधार लेकर 'हितोपदेश' लिखा। बंगाल के राजा धवलचन्द्र इनके आश्रयदाता थे। १३७३ ई. में लिखित इसकी एक पाण्डुलिपि मिली है। अत: यह इसके पूर्व की ही रचना है। आबाल-वृद्ध सबके लिए उपयोगी समझकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

(पिछले अंक में आपने पढ़ा कि एक कौए ने सुबह उठते ही देखा कि एक बहेलिए ने आकर जंगल में जाल फैला दिया। बाद में कबूतरों के राजा चित्रग्रीव ने अपनी प्रजा के साथ आकाश में विचरण करते हुए वहाँ चावल के कण बिखरे देखे। साथ के कबूतरों को लुब्ध देखकर चावल के कणों में किसी अनिष्ट की आशंका से उन्हे सावधान करते हुए उसने उस बाघ की कथा बताई जो कंगन दान करने के बहाने पथिकों को मारकर खा जाता था। परन्तु ....)

चित्रग्रीव की बात सुनकर एक कबूतर ने अभिमानपूर्वक कहा – "विपत्ति का समय आने पर ही बूढ़ों की बात माननी चाहिये। यदि सब जगह इस प्रकार विचार करें, तब तो भोजन मिलना भी कठिन हो जाय। क्योंकि – 'पृथ्वी अन्न-जल आदि सभी वस्तुएँ शंका से व्याप्त हैं। सर्वत्र किसी-न-किसी तरह का सन्देह विद्यमान ही रहता है। तो फिर कोई किस पर भरोसा करे और किस तरह जीवन धारण करे।' और 'ईर्ष्यालु, घृणा करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, शंकालु और पराधीन – ये छ: प्रकार के मनुष्य सदा दुखी रहते हैं'।"

यह सुनकर सभी कबूतर चावल के लोभ में उतरकर उस जाल पर बैठ गये। क्योंकि – "महान् शास्त्रों के ज्ञाता और शंकाओं का समाधान करनेवाले बड़े बड़े विद्वान् भी लोभ के चक्कर में पड़कर दु:ख उठाते रहते हैं।" और भी कहा है –

लोभात्क्रोध: भवति लोभात्काम: प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभ: पापस्य कारणम् ।।

– "लोभ से क्रोध होता है, लोभ से कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, लोभ से अज्ञान बढ़ता है और लोभ से ही विनाश भी होता है। अत: लोभ ही सभी पापों का कारण है।"

"स्वर्णमृग का होना असम्भव है, तो भी श्रीराम उसके प्रति प्रलोभित हो गये। विपत्तिकाल आने पर प्राय: बुद्धिमानों की बुद्धि भी मलिन हो जाती है।"

इसके बाद सभी कबूतर जाल में फँस गये। और जिसकी बात मानकर वे उतरे थे, सब मिलकर उसे कोसने लगे। इसीलिए कहा है – "किसी भी दल के अगुआ मत बनो, क्योंकि कार्य सिद्ध होने पर तो सभी को समान फल मिलता है, परन्तु कार्य बिगड़ जाने पर अगुआ ही मारा जाता है।"

कबूतर की निन्दा सुनकर चित्रग्रीव ने कहा, "इसका कोई दोष नहीं। क्योंकि – "विपत्ति आने पर अपना शुभ-चिन्तक भी उसका कारण बन जाता है। जैसे दूध दूहते समय माता का जंघा ही बछड़े को बाँधने के लिए खम्भे का काम करता है।"

स बन्धुर्यो विपन्नानाम् आपदुद्धरणक्षम: ।
न तु भीतपरित्राण-वस्तूपालम्भ-पण्डित: ।।

– 'जो विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को उबार सके, वही मित्र है, न कि वह जो भयभीत मित्र को धिक्कारने में निपुण हो।'

"विपत्ति में घबड़ाना कायर व्यक्ति का लक्षण है, अत: अब धैर्यपूर्वक बचने का उपाय सोचना चाहिये। क्योंकि –

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम: ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

– 'विपत्ति में धैर्य, समृद्धि में क्षमा, सभा में वाक्चातुरी, युद्ध में पराक्रम, यश में रुचि और शास्त्रों में व्यसन – ये लक्षण महापुरुषों में स्वभाव से ही रहा करते हैं।'

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवन-त्रय-तिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ।।

– 'जिसे सम्पत्ति के प्राप्त होने पर हर्ष नहीं होता, विपत्ति आने पर दु:ख नहीं होता और युद्ध में भय नहीं होता, ऐसे त्रिभुवन के तिलकस्वरूप पुत्र को बिरले ही कोई माता जन्म देती है।'

षड्दोषा: पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।।

– 'इस संसार में मनुष्य के ये छह दोष हैं – निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता (काम को टालना), जिसे ऐश्वर्य की इच्छा हो, उसे इनका त्याग कर देना चाहिए।'

"अब ऐसा करो कि सभी कबूतर एक साथ मिल करके इस जाल को लेकर उड़ चलो। क्योंकि –

अल्पानामपि वस्तूनां संहति: कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिन: ।।

– 'छोटी छोटी वस्तुओं की एकता से बड़े बड़े कार्य सिद्ध होते हैं, वैसे ही जैसे कि तिनकों को जोड़कर रस्सी बना लिए जाने पर उससे मतवाले हाथी तक को बाँधा जा सकता है।'

'अपना कुल छोटा भी हो तो भी आपस में मिलकर रहना ही उत्तम है, क्योंकि धान में से भूसी निकाल लिए जाने पर उसमें अंकुरण नहीं होता।' "

ऐसा विचारकर वे सभी कबूतर जाल लेकर उड़ चले। वह बहेलिया दूर से ही उन जाल लेकर उड़े जाते हुये पक्षियों को देखकर पीछे पीछे दौड़ता हुआ सोचने लगा – "ये संगठित

पक्षी मेरे जाल को लेकर भागे जा रहे हैं, पर जब ये थककर गिरेंगे, तब मेरे कब्जे में आ जायेंगे। इसके बाद जब वे पक्षी आँखों से ओझल हो गये, तब बहेलिया लौट गया।

बहेलिये को लौटा देखकर कबूतरों ने कहा – "अब क्या करना उचित है?" राजा चित्रग्रीव बोला –

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात्त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः ।।

– 'माता-पिता और मित्र, ये तीन स्वभावतः शुभचिन्तक होते हैं। बाकी लोग तो किसी कारणवश शुभचिन्तक हो जाते हैं।'

"अतः हमारा मित्र हिरण्यक नामक चूहों का राजा गण्डकी नदी के तट पर चित्रवन में निवास करता है। वह हमारे जालों को काट डालेगा।"

ऐसा विचार करके वे सब हिरण्यक की बिल के पास पहुँचे। हिरण्यक विपत्ति के भय से सौ द्वारों का बिल बनाकर रहा करता था। वह कबूतरों के गिरने की ध्वनि से घबराकर चुपचाप बैठ गया। चित्रग्रीव बोला, "मित्र हिरण्यक! हमसे बोलते क्यों नहीं?" हिरण्यक उसकी बोली पहचानते ही बड़े आनन्दपूर्वक बाहर निकला और कहने लगा – "ओह, मैं बड़ा पुण्यवान हूँ, मेरा मित्र चित्रग्रीव आया है।"

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान ।।

– 'जिसकी मित्र के साथ बातें होती है, जिसका मित्र के साथ निवास होता है और जिसका मित्र के साथ विचार-विमर्श होता है, उससे बढ़कर पुण्यात्मा इस संसार में और कोई नहीं है।'

इसके बाद जब उसने उन कबूतरों को जाल में बँधा देखा तो क्षण भर विस्मित भाव से बैठा रहा। फिर बोला, "मित्र! यह क्या?" चित्रग्रीव ने उत्तर दिया – "मित्र! यह हमारे पूर्व जन्म के कर्म का फल है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ।।

– 'जिस कारण, जिसके द्वारा, जिस तरह, जिस समय, जैसा, जितना और जहाँ पर प्राणी द्वारा भला या बुरा कर्म हुआ रहता है; उसी कारण, उसी के द्वारा, उसी तरह, उसी समय, वैसा ही, उतना ही और वहीं पर भाग्यवश होकर भोगता है।'

रोकशोकपरितापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ।।

– 'रोग, शोक, सन्ताप, बन्धन और क्लेश – ये सभी मनुष्यों के अपने ही कर्मरूपी वृक्ष के फल हैं।' "

यह सुनकर हिरण्यक तत्काल चित्रग्रीव के बन्धन काटने को आगे बढ़ा। चित्रग्रीव बोला, "मित्र! नहीं, ऐसा न करो। पहले हमारे आश्रितों के बन्धन काट दो, उसके बाद मेरे बन्धन काटना।" हिरण्यक ने कहा – "मुझमें थोड़ा-सा ही बल है और मेरे दाँत भी कोमल हैं। अतः मैं इनके बन्धन कैसे काट सकूँगा। अतः मेरे दाँत टूट न जायँ, उसके पहले मैं तुम्हारे बन्धन काट रहा हूँ। इसके बाद यथाशक्य इनके भी बन्धन काट दूँगा।" इस पर चित्रग्रीव ने कहा, "ठीक है, पर पहले यथाशक्ति इन्हीं के बन्धन काटो।" हिरण्यक बोला, "अपने बारे में इस तरह उदासीन होकर जो आप अपने आश्रितों का ख्याल रख रहे हैं, वह नीतिशास्त्र के विरुद्ध है। क्योंकि –

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।।

– 'आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करें, धन से भी अधिक महत्त्व देकर स्त्री की रक्षा करें, किन्तु स्त्री और धन से भी उत्तम समझकर स्वयं अपनी रक्षा करें।'

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ।।

– 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्राण ही मूल कारण है। इस प्राण की हत्या करनेवाले मनुष्य ने किसकी हत्या नहीं की और इसकी रक्षा करनेवाले ने किसकी रक्षा नहीं की?'

चित्रग्रीव बोला, "नीति तो यही है, पर मैं अपने आश्रितों का दुःख सहने में सर्वथा असमर्थ हूँ, इसी से ऐसा कहता हूँ, क्योंकि –

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
तन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ।।

– 'ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह धन तथा जीवन दूसरों के हित में न्यौछावर कर दे; जब इनका विनाश निश्चित ही है, तो भले कार्य के लिये इन्हें त्याग देना ही उत्तम है।'

"फिर यह एक दूसरा विशेष कारण भी है – जाति, अंगों तथा गुणों में इनकी मेरे साथ समानता है। (यदि मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर इनकी रक्षा न करूँ) तो फिर मेरे राजा होने की सार्थकता ही क्या है?'

"और फिर ये बेचारे बिना वेतन के भी मेरा साथ नहीं छोड़ते अर्थात् मेरे अधीन बने रहते हैं, इसलिये मेरे प्राणों की परवाह न करके पहले मेरे इन आश्रित जनों को जीवनदान करो। और हे मित्र! इस मांस, मूत्र, मल और हड्डी से बने शरीर का भरोसा त्यागकर मेरे यश की रक्षा करो।

"और फिर यदि इस अनित्य और मलवाही शरीर से नित्य व निर्मल यश मिल जाय तो फिर बाकी ही क्या रहा? अर्थात् सब मिल गया, क्योंकि शरीर और गुणों में बड़ा भेद है। देह क्षणभंगुर है, पर गुण युग के अन्त तक टिकने वाले हैं।"

यह सुनकर बड़े प्रसन्न मन से पुलकित होकर हिरण्यक ने कहा – "ठीक है मित्र! ठीक है! अपने आश्रितों के प्रति इतने

तीव्र वात्सल्यभाव के कारण तुम तीनों लोकों के स्वामी होने के योग्य हो।''

ऐसा कहते हुए उसने सभी कबूतरों के बन्धन काट दिये। तत्पश्चात् हिरण्यक ने उन सबका सत्कार करके कहा – ''मित्र चित्रग्रीव! जाल में फँस जाने के दोष पर विचार करके अफसोस मत करना। क्योंकि – 'जो पक्षी सौ योजन से भी अधिक दूरी पर विद्यमान मांस के टुकड़ों को देख सकता है, वही समय आ जाने पर जाल के बन्धनों को नहीं देख पाता।'

''और फिर यह भी तो कहा है –

शशि-दिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।।

– 'सूर्य, चन्द्र को ग्रहण लगना, हाथी और विषधर साँपों का बँध जाना और बुद्धिमान मनुष्यों की निर्धनता को देखकर मैंने यही समझा है कि भाग्य ही सबसे प्रबल होता है।' और –

व्योमैकान्त-विहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्या समुद्रादपि ।
दुर्णीतं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ।।

– 'आकाश के एकान्त में विचरनेवाले पक्षी भी विपत्ति में फँस जाते है। अथाह जल में रहनेवाली मछलियाँ भी चतुर मछुओं द्वारा पकड़ ली जाती हैं। (ऐसी दशा में कैसे कहा जाय कि) संसार में क्या दुष्कर्म है और क्या सत्कर्म? यह भी नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा स्थान पाना लाभदायक है? क्योंकि काल दूर से ही विपत्ति रूपी हाथ बढ़ाकर जब जिसे चाहता, पकड़ लिया करता है।' ''

इस तरह समझाकर हिरण्यक ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया। इसके बाद आलिंगन करके उसे जाने की अनुमति दे दी। तब चित्रग्रीव अपने साथियों के साथ अभीष्ट दिशा की ओर चला गया और हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया।

इसीलिए कहा गया है –

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ।।

– मनुष्य को चाहिये कि जैसे भी हो सैकड़ो मित्र बनाये; देखो, एक साधारण-से मित्र चूहे ने कबूतरों के बन्धन काट दिये।

इसके बाद लघुपतनक नामक कौआ जो कि चित्रग्रीव और हिरण्यक की बातें सुन रहा था, विस्मय के साथ बोला – ''अहो हिरण्यक! तुम धन्य हो। मैं भी तुम्हारे साथ मैत्री करना चाहता हूँ। मेरे साथ मित्रता करके मुझ पर कृपा करो।'' यह सुनकर बिल के भीतर से ही हिरण्यक बोला – ''तुम कौन हो?'' वह बोला, ''मैं लघुपतनक नामक कौआ हूँ।'' हिरण्यक ने कहा, ''तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी? क्योंकि समझदार मनुष्य का कर्तव्य है कि जिसका जिसके साथ मेल खाय, उसी से सम्बन्ध करे। मैं तुम्हारा भोजन हूँ और तुम मेरे भक्षक हो, तब तुम्हारे साथ कैसे प्रेम हो सकता है? भक्ष्य और भक्षक की प्रीति एकमात्र विपत्ति का कारण है। जैसे सियार की करतूत से पाश में बँधे हुये मृग की कौए ने रक्षा की थी।'' कौए ने पूछा, ''यह कैसे?'' हिरण्यक कहने लगा –

कथा २

''मगध देश में चम्पकवती नामक एक बड़ा वन था। उसमें बहुत दिनों से प्रेम के साथ कौआ और हिरन – ये दोनों रहते थे। एक सियार ने शरीर से हृष्ट-पुष्ट उस हिरन को देखा। उसे देखकर सियार ने सोचा – 'ओह! मुझे किस प्रकार इसका स्वादिष्ट मांस खाने को मिले? अच्छा चलो, पहले इसके मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करूँ।''

ऐसा विचारकर वह उसके पास गया और कहने लगा – ''मित्र! आनन्द से हो न?'' हिरन बोला – ''तुम कौन हो?'' उसने उत्तर दिया – ''मैं क्षुद्रबुद्धि नामक सियार हूँ। इस वन में मै बिना किसी साथी के मुर्दे के समान रहता था। पर अब तुम्हारे जैसे साथी को पाकर मुझे एक नया जीवन प्राप्त हुआ है। आज से मैं तुम्हारा अनुचर बनकर रहूँगा।'' हिरन ने कहा – ''ठीक है, ऐसा ही होगा।'' इसके बाद जब सूर्यदेव अस्त हो गये, तब वे दोनों मृग के निवास पर गये। वहाँ उसका पुराना मित्र सुबुद्धि नामक कौआ एक चम्पा-वृक्ष की शाखा पर रहता था। उन दोनों को देख कौआ बोला – ''मित्र चित्रांग! यह दूसरा कौन है?'' मृग ने कहा – ''यह एक सियार है। मेरे साथ मित्रता करने की अभिलाषा से आया है। कौए ने कहा – ''एकाएक आये हुये प्राणी के साथ मित्रता करना ठीक नहीं है। कहा भी है –

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित् ।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः ।।

–'जिसका कुल-शील ज्ञात न हो, उसे आश्रय देना ठीक नहीं, क्योंकि बिलाव के अपराध से बूढ़ा गिद्ध मारा गया था।' ''

इस पर उन दोनों ने पूछा – ''सो कैसे?''

कौआ कहने लगा –

❖ (क्रमशः) ❖

पाप और पुण्य कर्म

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

प्रायः सभी धर्म और दर्शन पाप और पुण्य की विवेचना करते हैं, पर यह विवेचन प्रायः इतना जटिल होता है कि इनसे पाप और पुण्य का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर और उलझ जाया करता है। एक ग्रन्थ में पाप और पुण्य की बड़ी सरल परिभाषा दी गई है। वहाँ कहा गया है – **परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्**। अर्थात् परोपकार पुण्य है तथा परपीड़न पाप। कुछ अतिवादी लोग परपीड़न का ऐसा मतलब लगाते हैं कि कभी किसी को दुःख ही नहीं देना। इससे कई लोग शंका करते हैं कि चोर, डाकू, हत्यारा, लपट, व्यभिचारी आदि दुराचारी व्यक्तियों से फिर किस प्रकार व्यवहार किया जाय? उनको दण्ड देना क्या परपीड़न नहीं है? इसका उत्तर यह है कि अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का दमन होना ही चाहिए और यह परपीड़न में न आकर परोपकार में आता है।

कर्मों के तीन प्रकार माने जाते हैं : पहला – सामान्य कर्तव्य कर्म, दूसरा – पुण्य कर्म और तीसरा – पाप कर्म। व्यक्ति सर्वदा समाज से सम्बन्धित होता है। उसके विचारों और कर्मों का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। जब वह अपने और अपने परिवार के सदस्यों के निर्वाह के लिए उचित तरीकों का सहारा लेते हुए अपनी जीवन-यात्रा तय करता है, तो उसके ये कर्म सामान्य कर्तव्य के अन्तर्गत आते हैं। यदि वह अनुचित तरीकों का सहारा लेता है, तो वह पाप कर्म करता है और समाज को भी अधोगति की ओर ले जाता है। जो कर्म व्यक्ति और समाज की अवनति करते हैं, वे पाप-कर्म की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर जिन कर्मों से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य-कर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण अति सुन्दर रूप से किया है। वे नीतिशतक में कहते हैं –

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

भर्तृहरि पुण्यकर्मी को सत्पुरुष कहते हैं। सामान्य कर्मी को सामान्य और पापकर्मी को मानव-राक्षस। पापकर्मी की वे एक और कोटि भी बताते हैं, जो मानव-राक्षस से भी गई-बीती है। उसका नामकरण वे नहीं कर पाते। वे कहते हैं – एक तो सत्पुरुष होते हैं, जो अपना स्वार्थ तजकर दूसरों के हित में लगे रहते हैं, दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक परहित करते हैं, जहाँ तक उनके स्वार्थ में धक्का नहीं लगता, तीसरी कोटि में मानव-राक्षस आते हैं, जो अपना स्वार्थ साधने हेतु दूसरों का गला घोटने में भी नहीं हिचकते, पर अकारण ही दूसरों के हित पर कुठाराघात करनेवाले लोग किस कोटि में रखे जाएँ, मैं नहीं जानता।

वस्तुतः दूसरों का हित करना ही सर्वोच्च पुण्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो परोपकार को सबसे बड़े धर्म के रूप में माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'मानस' में वे कहते हैं – **परहित सरिस धरमु नहीं भाई।** अर्थात् परोपकार के समान महान् धर्म अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार गोस्वामी जी परपीड़न से अधिक जघन्य पाप भी दूसरा नहीं देखते। वे कहते हैं – **परपीडा सम नहिं अधमाई।** वस्तुतः पुण्य जहाँ समाज को सगठित और विकसित करता है, वहाँ पाप समाज में विघटन और विशृखलता की सृष्टि करता है। हमारे जो आचार एव कार्य सामाजिक जीवन को सुदृढ़ बनाते हैं तथा विकसित करते हैं, जो शास्त्रानुकूल और मर्यादित हैं, वे ही पुण्य हैं तथा हमारे जिन कर्मों से समाज विघटित होता है, वे ही पाप कहे जाते हैं। ❑ ❑ ❑

पुरखों की थाती (९)

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण तु।
परोपकारो पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

– हे विश्ववासियो, अधिक कहने से क्या लाभ! अतः मैं संक्षेप में धर्म बताता हूँ – दूसरों को सुख देना ही पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है।

असम्माने तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः।
पूजया पुण्यहानिः स्यात् निन्दया सद्गतिः भवेत्॥

– अपमान सह लेने से पुण्य-वृद्धि होती है और सम्मान ग्रहण करने से तपःक्षय होता है; प्रशंसित होने से पुण्य-क्षय होता है और निन्दित होने से मुक्ति हो जाती है।

श्रीमद्-विवेकानन्द स्वामी का सचित्र संक्षिप्त जीवन चरित्र

पं. माधवराव सप्रे

('छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका के सम्पादक ने स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् उनकी स्मृति में जो प्रबन्ध लिखकर अपने जुलाई १९०२ के अंक में प्रकाशित किया था, उसी का यह पुनर्मुद्रण है। उन दिनों स्वामीजी के जीवन के बारे में काफी कम जानकारी प्राप्त थी, अत: कई तथ्यगत भूलें आ गयी हैं। इसमें उस काल की हिन्दी का भी नमूना प्राप्त होता है, अत: हमने इसमें प्रयुक्त शब्दों आदि को यथासम्भव यथावत् रहने दिया है। इस लेख का महत्त्व इसी में है कि इसे सौ वर्ष पूर्व लिखकर उनके जीवन को प्रकाशित करने चेष्टा की गयी थी। – सं.)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।
श्रीमद्भगवद्गीता, अ. ४.

भावार्थ – हे भारत, जब जब धर्म की क्षीणता और अधर्म की प्रबलता होती है तब तब मैं जन्म लेता हूँ। साधू की रक्षा करने, दुष्ट का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के हेतु मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ।।

भगवान श्रीकृष्ण के उपरोक्त वचन के अनुसार प्रत्येक युग में धर्मसंस्थापक का उत्पन्न होना स्वयंसिद्ध है। धर्मसंस्थापकों में अद्वितीय गुण होने के कारण वे ईश्वरी अवतार माने जाते हैं; क्योंकि इस जगत् में जितने परोपकार करनेवाले उदार और महान् पुरुष हैं, वे सब साक्षात् ईश्वर ही के अंश हैं। ऐसे ही पुरुषों को परमात्मा की विभूति कहते हैं। कई जन्म तक तपंश्चर्या रूपी तरु की सेवा करके उसके मधुर फलों का आस्वाद इस संसार के सब लोगों को यथेच्छ दिलाना, अपनी अप्रतिम बुद्धि से विद्या-देवी को अल्पकाल में प्रसन्न कर लेना, सब शास्त्रों में निपुण होकर सार वस्तु को ग्रहण कर लेना, नूतन सिद्धान्त स्थापित करके बेखटके लोगों के मन में उन्हें प्रतिबिम्बित कर देना, अविद्या के कारण मनुष्य के स्वभाव में जो एकदेशीय विचार भरे हुए हैं, उन्हें निकाल डालना और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** तत्त्व को स्थान देना, केवल परोपकार करने के लिये निरपेक्ष बुद्धि से 'करतलभिक्षा तरुतलवास' को स्वीकार कर विश्वस्वरूप परमात्मा की पूजा (लोकसेवा रूपी सामग्री से) करना, इन्द्रिय-सुख पर जलांजलि दे वैराग्यवृत्ति में संतोष मानना, कुछ साधारण मनुष्य का काम नहीं है। इस कठिन व्रत को जो बड़े आनन्द से निभाते हैं और अपनी काया, वाचा और मन परोपकारार्थ अर्पण कर देते हैं, उन्हें लोग परमात्मा की विभूति जानकर यदि सम्मानित करें, तो आश्चर्य ही क्या है! देखिये, **श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य** ने केवल ३२ वर्ष में दिग्विजय करके हिन्दू-धर्म संस्थापित किया। आज उन्हें सैकड़ों वर्ष हो गये; परन्तु उनकी आज्ञा सेतुबन्ध रामेश्वर से ले हिमालय पर्वत तक सब लोग अब तक मानते चले आते हैं। **गौतम बुद्ध** केवल एक राजा का लड़का था; परन्तु इस समय दुनिया के आधे से अधिक लोग उसी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार **क्राइस्ट** और **महम्मद** का भी प्रभाव है। यह केवल उनकी अलौकिकता का परिणाम है। हर्ष की बात है कि इस प्रकार के महात्मा पुरुष हमारे देश में अनेक हो गये हैं।।

उन्नीसवीं सदी को आधिभौतिक ज्ञान की उन्नति का मुख्य समय और यूरोप को मुख्य स्थान मानते हैं। ऐसे समय में भारतवर्ष के जिन महात्मा पुरुष ने आध्यात्मिक ज्ञान का महत्व पाश्चिमात्य विद्वानों से स्वीकृत करा अपने अपूर्व योगबल से इसी देश को नहीं किन्तु **इंग्लैन्ड, अमेरिका, जर्मनी,** आदि को भी आश्चर्यचकित कर दिया, उनके सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा सब छोटे बड़े स्त्री पुरुषों को अवश्य हुई होगी। अतएव आज हम यहाँ उपर्युक्त महात्मा **श्री स्वामी विवेकानन्द** का संक्षिप्त जीवन वृतान्त देते हैं। सम्प्रति हमारे पास ऐसी विश्वसनीय सामग्री नहीं है कि जिसके आधार पर हम स्वामीजी का बृहत् जीवन चरित्र लिख सकें। हमने इस विषय में **'प्रबुद्ध भारत'** और 'बेलूर मठ' के अधिकारियों से पत्र-व्यवहार भी किया; परन्तु कुछ समाधानकारक उत्तर नहीं आया। इसलिये अनेक समाचार पत्रों तथा मासिक पुस्तकों में स्वामीजी के सम्बन्ध में समय समय पर जो बातें प्रकाशित हुई हैं उनके आधार पर, तथा स्वामीजी के भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग आदि ग्रन्थों और व्याख्यानों के आधार पर, यह संक्षिप्त चरित्र लिखा गया है। हम स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह **'चरित्र'** नहीं है – केवल एक प्रकार का वर्णन है। स्वामीजी जैसे महात्मा का यथार्थ जीवन-चरित्र लिखने के लिये हमसे अधिक योग्यता और बुद्धिमत्ता के पुरुष की आवश्यकता है; पर जब तक इच्छित प्रकार का चरित्र-ग्रन्थ प्रकाशित न हो, तब तक इस संक्षिप्त वृत्तान्त पर ही सन्तुष्ट रहने के लिये हम अपने पाठकों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं।।

श्रीमद्विवेकानन्द स्वामी का पहिला नाम **नरेन्द्रनाथ** था। इनका जन्म कलकत्ते के निकट किसी गाँव में सन् १८६३ ई. में हुआ। उस गाँव के नाम का उल्लेख कहीं देखने में नहीं आता। इनके छुटपन का पूरा २ हाल कहीं प्रगट नहीं हुआ

है। इससे उनकी बाल्यावस्था का वर्णन, माता पिता भाई बहिन आदि कुटुम्बियों के स्वभाव तथा गृहस्थिति हमारे लिये अगम्य है। तथापि कहीं २ किसी विशेष प्रसंग पर इनकी जो वक्तृताएं हुई हैं और उनमें स्वामी जी के मुख से निज के विषय में जो उद्गार निकले हैं, उन पर विचार करने से अनुमान किया जा सकता है कि छुटपन में ये बड़े खिलाड़ी, चंचल, बुद्धिमान और तेजस्वी थे। इन्होंने १८ या १९ वर्ष की अवस्था में कलकत्ता युनिवर्सिटी की **बी.ए.** की परीक्षा पास की। इनके पिता कलकत्ते में अटर्नी (मुख्तार) का काम करते थे। उनकी यह अभिलाषा थी कि **नरेन्द्रनाथ** बारिष्टर होकर खूब धन और नाम कमावे। पिता की इच्छानुसार **नरेन्द्रनाथ** ने ऐहिक धन तो कुछ कमाया नहीं, परन्तु पारमार्थिक धन इतना कमाया कि सारे संसार में आज उनके नाम का जय जय कार हो रहा है!

आजकल देशी शालाओं में जो शिक्षा हिन्दू बालकों को दी जाती है, उसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियों के अन्त:करण में धर्मविचार की जागृति यत्किंचित् भी नहीं होती। इतना ही नहीं, वरन् आधुनिक अँग्रेजी विद्या विभूषित हिन्दू विद्यार्थीगण स्वधर्म की विडम्बना करने को सदैव तत्पर रहते हैं। अँग्रेजी सीखने पर **नरेन्द्रनाथ** का भी बर्ताव इसी प्रकार का था। वे संशयवादी (Sceptic) थे। कभी २ तो नास्तिक (Atheist) भी बन जाते थे। जब कभी कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता हुआ इन्हें दिखाई देता था तो ये उससे बड़ा वादविवाद करते और अन्त में यह प्रश्न करके **''क्या तुमने अपने परमेश्वर को प्रत्यक्ष देखा है?''** – निरुत्तर कर दिया करते थे। तथापि, उन्हें परमार्थ विषय पर विचार करने और वेदान्त विषय के सुनने की तथा साधू सन्तों के समागम की बड़ी इच्छा रहती थी; और इसीलिये वे आध्यात्मिक विषयों पर बहुत कुछ वादविवाद किया करते थे। उनके उपरोक्त प्रश्न से कोई २ तो निरुत्तर हो जाते थे परन्तु कोई २ ऐसा जवाब दे दिया करते थे कि "हाँ, हमने अपने परमेश्वर को देखा है, हम तुम्हें भी दिखला सकते हैं। परन्तु तुम्हारी दिव्य दृष्टि नही है, इसीसे तुमको परमेश्वर दिखाई नही देता। किसी पदार्थ के दृष्टिगोचर न होने के दो ही कारण सम्भवनीय हैं – एक तो यह कि स्वयं पदार्थ ही का अभाव हो; दूसरे यह कि पदार्थ को देखने के लिये दृष्टि, प्रकाश, सान्निध्य आदि सामग्री का अभाव हो।'' सत्य है। पानी में छोटे २ सहस्रों जन्तु होते हैं, परन्तु वे हमारे नेत्रों से दिखाई नहीं देते; क्योंकि हमारे नेत्रों में उतनी सूक्ष्मता नहीं है। अस्तु॥

इस प्रकार का वादविवाद कुछ समय तक करते २ नरेन्द्रनाथ प्राचीन मत के प्रेमी हो चले। उन्हें यह विश्वास हो गया कि प्राचीन मत ही उत्तम है और उसी को पुनरुज्जीवित करना चाहिये। परन्तु इसमें उनकी आत्मा को कुछ सन्तोष नही होता था। अतएव बहुत कुछ विचार करने पर उन्होंने एक दिन अपनी मित्र मंडली से स्पष्ट कह दिया कि "केवल प्राचीन मत के पुनरुज्जीवन से भारतवर्ष का कल्याण कदापि न होगा।'' ऐसा कहकर वे बारह मास तक अज्ञातवास में रहे – कभी किसी से भेंट नहीं ली और न किसी को दिखाई दिये। तथापि उन्हें शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई।

कुछ समय बीत जाने पर **नरेन्द्रनाथ** के अन्त:करण में आध्यात्मिक प्रकाश होने का समय आया। कलकत्ते के पास ही **रामकृष्ण परमहंस*** नाम के एक विख्यात साधू रहते थे। **नरेन्द्रनाथ** के चाचा परमहंस के दर्शन करने नित्य जाया करते थे और नरेन्द्रनाथ की संशयात्मक बुद्धि का बड़ा खेद होता था। अतएव वे उन्हें भी अपने साथ परमहंस के दर्शन को ले जाया करते थे और कहते थे कि तुम अपने नास्तिक मत पर परमहंस जी से चर्चा करो। वहाँ परमहंस जी का हरिकीर्तन और सम्भाषण श्रवण करने के हेतु अनेक सुशिक्षित पुरुष एकत्रित हुआ करते थे। बंगाल प्रान्त के सुप्रसिद्ध धर्मसुधारक बाबू **केशवचन्द्र सेन** भी परमहंस जी के दर्शन को नित्य जाया करते थे। उनमें अँग्रेजी लिखे पढ़े और नरेन्द्रनाथ की नाई संशयवादी बने हुए कई ग्रेजुएट भी आया करते थे। रामकृष्ण परमहंस के जिह्वाग्र पर साक्षात् सरस्वती बिराजती थीं। उनका भाषण इतना कोमल, मधुर और अध्यात्म ज्ञान से परिपूर्ण रहता था कि सब लोग भ्रमर की नाई उन पर लुब्ध हो जाते थे। जब लों उनका भाषण होता था तब लों सबलोग चित्र की नाई तटस्थ रहते थे! वहाँ किसी के मन में कुतर्क का प्रवेश होने के लिये अवकाश ही नहीं मिलता था। परमहंस जी के एक २ शब्द में इतना प्रसाद गुण भरा रहता था कि सुनने वाले के मन में कभी शंका ही उत्पन्न होती नही थी। परन्तु कभी २ विशेष कारणों से किसी विषय पर सुशिक्षित विद्वान और तत्व जिज्ञासू लोग अनेक शंकाएं भी करते थे जिनका उत्तर परमहंस महाराज अत्यन्त शान्त वृत्ति और समाधान पूर्वक दिया करते थे। कभी २ तो बड़ा भारी वादविवाद भी उपस्थित हो जाता था। इस प्रकार के वादविवाद में प्राय: **नरेन्द्रनाथ** ही अगुआ रहते थे।

एक दिन, नित्य क्रमानुसार परमहंस जी का उपदेश पूरा हो जाने पर, ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे वादविवाद आरंभ हुआ। उत्तरपक्ष में प्राय: सब ग्रेजुएट और उनके नायक **नरेन्द्रनाथ** थे। उन्होने नास्तिक मत को स्वीकार किया। परमहंस जी ने अनेक उपयुक्त और स्वाभाविक दृष्टान्तो से उनका खंडन किया और परमेश्वर के स्वरूप तथा लक्षण का सारगर्भित वर्णन किया। उनके इस अगाध ज्ञान को श्रवण कर कई लोगो की

---

* इंग्लैन्ड के सुप्रसिद्ध मैक्सम्यूलर साहब ने इसका जीवन चरित्र लिखा है और उनके बोध वचनो का संग्रह अंग्रेजी भाषा मे किया है। सम्पादक

शंकाओं का निवारण हो गया; परन्तु **नरेन्द्रनाथ** का मन उससे तृप्त न हुआ। उनकी यह अभिलाषा हुई कि इससे भी कुछ अधिक महत्व का निरूपण यदि परमहंस जी के मुख से निकले तो अच्छा होगा। परन्तु रात बहुत हो गयी थी। इस लिये सब लोग मठ में से अपने २ घर जाने के लिये उठे। उन्हीं के साथ **नरेन्द्रनाथ** भी चले। जाते २ उन्होंने अपनी पूर्व पद्धति के अनुसार, उपदेशक को कुण्ठित करने और मण्डली को हंसाने के उद्देश्य से, परमहंस जी के समीप जाकर जोर से कहा "गुरुजी, आपने परमेश्वर के स्वरूप और लक्षण का जो वर्णन किया सो सब हम लोगों ने सुना; परन्तु क्या आपने परमेश्वर को कभी स्वयं देखा है? या ये सब केवल मुँह की बातें ही हैं !" कैसा भी वेदान्ती हो, इस प्रश्न का उत्तर देने में वह कदापि समर्थ न होगा। यही सोचकर सब लोग सशंकित हो परमहंस की ओर निहारने लगे। रामकृष्ण परमहंस बड़े सामर्थ्यवान साधू और पहुँचे हुए महात्मा थे। वे **नरेन्द्रनाथ** के प्रश्न का उत्तर देने में तिलमात्र भी नहीं लड़खड़ाए। तुरन्त प्रसन्न मुख से कहने लगे कि "अरे, हाँ, हाँ, मैंने अपने परमेश्वर को देखा है। इतना ही नहीं, किन्तु मैं तुझे भी दिखला देने को तैयार हूँ। आ, बैठ यहाँ — " ऐसा कहकर उन्होंने बड़े प्रेम से **नरेन्द्रनाथ** को आध्यात्मिक ज्ञान से अनुगृहीत किया। तभी से वे परमहंस जी को बहुत मानने लगे और वे उनके पट्ट शिष्य बन गये। वे अविवाहित तो थे ही; अब उन्होंने सांसारिक प्रपंच से अपना मन धीरे २ अलग कर लिया और निस्सीम गुरुभक्ति में लीन हो गये॥

श्रीरामकृष्ण परमहंस जी के शिष्यों में बीस ग्रेजुएट थे। ये सब उनके मुख्य शिष्य कहलाते थे; क्योंकि परमहंस जी के बतलाये हुए वैदिकधर्म के तत्व इन्ही शिष्यों के अन्तःकरण में पूर्णरीति से प्रतिबिंबित होते थे। ये शिष्य **नरेन्द्रनाथ** को अग्रमान दिया करते थे। इस प्रकार ये तरुण सुशिक्षित शिष्यगण अपने सद्गुरु महाराज के मुखारविन्द से निकले हुये सद्बोधामृत का स्वेच्छानुसार पान करते और अहर्निश वैदिक धर्म के तत्वों का मनन करते थे। जब कभी किसी बात में शंका आती थी तो उसका समाधान परमहंस जी कर देते थे। एक दिन चर्चा करते २ परमहंस जी ने **नरेन्द्रनाथ** से पूछा "सच्चिदानन्द परमेश्वर अमृत का सागर है और सब जीव मछलियों की नाई हैं। उस अमृत महासागर के रस का स्वाद तू कैसें लेगा?" इस पर **नरेन्द्रनाथ** ने उत्तर दिया "मैं किनारे पर बैठकर प्राशन करूँगा, क्योंकि भीतर डूबने से मृत्यु का भय है।" तब परमहंस जी ने कहा "यह तो अमृत का सागर है, यहाँ मृत्यु का भय नहीं है।" इस प्रकार के, केवल बालकों को शोभा देने योग्य, प्रश्नोत्तर देख बड़ा आश्चर्य मालूम होता है कि **नरेन्द्रनाथ** जैसे संशयवादी और नास्तिक पुरुष की विलक्षण बुद्धि को क्योंकर समाधान प्राप्त हुआ। अस्तु॥

सन् १८८६ ई. में परमहंस जी बहुत दिनों तक बीमार रहे। उस समय उनके नूतन शिष्य गणों ने उनकी सेवा तन-मन-धन लगाकर एकनिष्ठ भाव से की। परमहंस जी की छाती में पीड़ा हुई थी, इस लिये शिष्यों ने प्रार्थना की कि गुरुजी कुछ समय तक बातचीत करना छोड़ दें। परन्तु वह यही कहते थे कि "इस शरीर की इतनी चिन्ता क्यों करते हो? आत्मा अमर है।" ऐसा कहकर वे नित्य क्रमानुसार घण्टों उपदेश किया करते थे। इस से पीड़ा अधिक होकर रोग का स्वरूप बड़ा भयानक हो गया और अन्त में वे तीन-चार मास रुग्णावस्था में रहकर समाधिस्थ हो गये। उस समय उनके शिष्यों की जो दशा हुई होगी, उसका वर्णन हम नही कर सकते। पाठक स्वयं उसकी कल्पना अपने मन में कर लें!

श्रीरामकृष्ण परमहंस के मत का प्रचार अब कैसे हो? उनके योग्य कौनसा स्मारक कार्य किया जाय? इसी विचार में शिष्यों के दिन बीतने लगे। तब उन सभों ने मिलकर यह निश्चय किया कि सन्यास व्रत धारण करके इस जगत में वैदिक धर्म का उपदेश करना और स्थान २ पर "**रामकृष्ण परमहंस मठ**" स्थापित करना चाहिये। इस नियम के अनुसार उपरोक्त बीस तरुण शिष्यों ने (उसमें से किसी की भी उमर पचीस वर्ष से अधिक न थी) तत्काल सन्यास दीक्षा ली और अपने पूर्वाश्रम के नाम बदलकर कोई **विवेकानन्द**, कोई **अभयानन्द**, कोई **निरंजनानन्द**, कोई **रामकृष्णानन्द**, कोई **अद्वयानन्द**, कोई **ब्रह्मानन्द**, कोई **त्रिगुणातीतानन्द**, और कोई **निरंजनानन्द** बनकर **स्वामी** हो गये। हमारे चरित्रनायक **नरेन्द्रनाथ** अब **स्वामी विवेकानन्द** हुए। उन्होंने प्रथम कलकत्ते में "रामकृष्ण परमहंस मठ" स्थापित किया और फिर वैदिकधर्म का उपदेश करने के लिये देश-देशान्तर में भ्रमण करने की तैयारी की॥

स्वामी विवेकानन्द और उनके अनुयाइयों के मत की कुछ आलोचना हम आगे चलकर करेंगे। अभी केवल इतना ही कह देते है कि न तो वह प्राचीन था और न अप्राचीन। अस्तु। उनका उद्देश्य अत्यन्त व्यापक था। इसीसे उनके वेश आदि में प्राचीन सम्प्रदायो से कुछ भिन्नता दीख पड़ती थी। सम्प्रति हमारे यहाँ अधिकांश सन्यासियों का बर्ताव यही दीख पड़ता है कि वे सिर मुड़ाकर, गेरुआ वस्त्र पहिनकर, हाथ में दंड और कमंडलु लेकर, बारह बजे किसी भगत के घर पूड़ी की जुगुत लगाते फिरते हैं और फिर नदी के किनारे या देवालय में धूनी के पास गांजे की दम लगाते बैठते हैं। परन्तु हमारे आंग्लविद्या विभूषित सन्यासियों ने सम्पूर्ण जगत् में वैदिकधर्म का प्रचार करने का बीड़ा उठाया था। इसीसे वे समुद्रयात्रा और पाश्चात्य-देश-गमन निषेध को बिल्कुल नहीं मानते थे। "ज्ञानाग्निदग्ध-कर्माणम्" – यह सिद्धान्त उनके अन्तःकरण में पूर्ण रूपसे प्रतिबिबित हो गया था॥

शेष अगले पृष्ठ पर

मन के कैदी

स्वामी सत्यरूपानन्द

बात सुनने में कुछ अटपटी और अजीब-सी लगती है 'मन के कैदी'! भला मन का भी कोई कैदी हो सकता है?

जी हाँ, बात अजीब और अटपटी अवश्य लगती है, किन्तु है सच। हममें से अधिकाश विभिन्न अवसरों पर और परिस्थितियों में अपने मन के कैदी हो जाते हैं। खाँसी हो गई है, डॉक्टर दवा दे रहे हैं किन्तु खाँसी कम नहीं हो रही है। डॉक्टर पूछते हैं - 'क्या आप धूम्रपान करते हैं?' उसका उत्तर 'हाँ' में है।

डॉक्टर कहते हैं धूम्रपान न कीजिये अन्यथा दवा से लाभ न होगा। आप भी सहमत होते हैं। किन्तु धूम्रपान की तलब लगते ही न चाहकर भी हम पुनः धूम्रपान कर लेते हैं। हम अपनी आदत से विवश हैं।

कैदी विवश ही तो होता है। वह पराधीन है, विवश है, इसीलिए तो वह कैदी है। हम भी अपने मन के सामने विवश हैं। स्वाधीन नहीं हैं। तब क्या हम मन की कैद में नहीं हैं?

यह एक उदाहरण हुआ। अपने भीतर झाँकने पर ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे, जहाँ हम मन के कैदी हैं।

और कैदी कभी सुखी नहीं हो सकता - 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'।

सुखी होने के लिए, जीवन में सफल होने के लिए, हमें मन की कैद से छूटना होगा। मुक्त और स्वाधीन होना होगा। स्वाधीनता में, मुक्ति में ही सुख है। और जहाँ सुख है, वहीं शान्ति है।

मन का कारागार कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर ही है। मन ने हमें भीतर से बाँध रखा है। हम अपने मन के कारागार में ही कैद हैं। मन की कैद से छुड़ाकर हमें मुक्त करनेवाली शक्ति भी हमारे भीतर ही है। उस शक्ति का नाम है - इच्छा शक्ति। प्रबल और दृढ़ इच्छा शक्ति ही हमें मन की कैद से छुड़ा सकती है। हमें अपनी इस इच्छा शक्ति का आह्वान करना होगा। उसे जगाना होगा। सक्रिय करना होगा। एक बार जाग्रत और सक्रिय हो जाने पर यह शक्ति हमें मन के कारागार से मुक्त कर देगी।

अपनी इच्छा शक्ति को जाग्रत करने का प्रथम सोपान है मन की कैद से, मन की दासता से मुक्त होने की तीव्र इच्छा। एक बार यदि मन की दासता से मुक्त होने की व्याकुलता जाग उठी तो मानो मुक्ति का राजमार्ग ही खुल जाता है।

मुक्ति की इच्छा होते ही दृढ़ सकल्प करना चाहिए कि अपने मन की कैद से अवश्य मुक्त होऊँगा। और शीघ्र मुक्त होऊँगा। सकल्प, दृढ़ सकल्प मन की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र और एकाग्र करता है। दृढ़ सकल्प के द्वारा मन की शक्तियों का ध्रुवीकरण होता है। ध्रुवीकृत मन की शक्तियाँ अजेय होती हैं। जिस व्यक्ति के मन की शक्तियाँ केन्द्रित हो गई हैं अर्थात् जिसका मन सयत और एकाग्र है, वह व्यक्ति प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न हो उठता है। ऐसे व्यक्तियों को उनका मन अधिक दिनों तक दासता में नहीं रख सकता।

ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मन की कैद से मुक्त हो जाता है। एक बार किसी एक क्षेत्र में भी मन की कैद से मुक्त होने पर व्यक्ति का आत्मविश्वास शत गुना बढ़ जाता है। यह बढ़ा हुआ आत्मविश्वास व्यक्ति को विभिन्न क्षेत्रों में मन की दासता से मुक्त करता जाता है। मन की दासता से मुक्त होने पर ही हमें अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है, उसका बोध होता है। अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान, उसका बोध ही परम सुख, परम शान्ति का आगार है।

आइये, मन की कैद से छूटने का दृढ़ सकल्प लें तथा उस दिशा में आज और अभी कार्य करना आरम्भ कर दें। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

केरल-कोकिल नामक मराठी मासिक पुस्तक में **स्वामी विवेकानन्द** के विषय में लिखा है कि "लोकसेवा ही अपनी माता है, वैराग्यवृत्ति ही अपनी अर्धांगिनी है, भिक्षा ही अपनी कुलस्वामिनी है, जीव (प्राण) को कष्ट देना ही अपना व्रत है; मनोनिग्रह ही अपना मन्दिर है, इन्द्रियदमन ही अपना व्यवसाय है, शान्तवृत्ति ही अपनी उपासना है, धर्मोपदेश ही अपना कर्तव्य है और आत्मस्वरूपानन्द ही अपना विहारोद्यान है – ऐसा दृढ़ निश्चय करके श्रीमद्विवेकानन्द स्वामी अपने गुरुभाइयों के साथ जगत्पर्यटन के हेतु कलकत्ते से निकले।" प्रथम वे **तिब्बत** में गये और वहाँ प्रवास के अनिवार्य क्लेश सहन करके वैदिकधर्म के प्रसार का कार्य प्रारम्भ किया। हिमालय में कन्द मूल फल खाकर उन्होंने एकान्त में ध्यान धारणा और विचार की परिपूर्णता की। शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि की पीड़ा सहन करके उन्होंने अपने शरीर को दण्ड दिया और एकाग्र चित्त से ब्रह्म सुख की प्राप्ति कर ली। फिर वे कलकत्ते को गये। तिब्बत में उनके कई गुरुभाई अभी तक धर्मोपदेश का कार्य कर रहे हैं। ❑❑❑

गीता की शक्ति और मोहकता (४)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

इन्द्रियपरक मूल्यों के प्राबल्य से उत्पन्न होनेवाले दोष

लम्बे अर्से तक सब ठीक-ठाक चल रहा था और तब क्या हुआ? शंकर कहते हैं – **अनुष्ठातृणाम् कामोद्भवाद् हीयमान -विवेक-विज्ञान-हेतुकेन अधर्मेण, अभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने च अधर्मे** – "जो लोग धर्म का अनुष्ठान करते थे, उनमें ज्ञान एवं विवेक ज्ञान का अभाव और इन्द्रियपरक कामनाओं का आधिक्य हो जाने से उनका धर्म या आदर्श-बोध चला गया और अधर्म या सामाजिक दोषों में वृद्धि हो गयी।"

जब ऐसी परिस्थिति आती है; तो काम, लोभ, हिसा तथा स्वार्थ में वृद्धि हो जाती है और पहले की स्वस्थ अवस्था में मनुष्यों को आपस में जोड़नेवाले गुणों का नाश हो जाता है, तब वह समाज एक क्षय की दशा को प्राप्त हो जाता है। काम तथा क्रोध से ग्रस्त होने पर सबसे पहले तो लोगों की विवेक तथा ज्ञान की शक्ति उन्हें छोड़ जाती है। उचित-अनुचित का बोध धुँधला होता जाता हैं। इन्द्रियपरक सुखों की खोज करते समय किस सीमा तक पहुँचकर निज को संयमित करना होगा, इसका विवेक चला जाता है। तब क्या होता है? **अधर्म** के द्वारा **धर्म** अभिभूत हो जाता है और नैतिक संयम पूरी तौर से चले जाते हैं। तब सभी लोग मनमानी करने लगते हैं, जैसा कि आज भारत में जीवन के अनेक क्षेत्रों में देखने को मिलता है। **धर्म** का अभिभूत हो जाना एक नकारात्मक अवस्था है, जो एक अन्य सकारात्मक अवस्था को जन्म देती है – **अधर्म** मे वृद्धि। तब दुष्कर्मो में क्रमशः आधिक्य होता जाता है और सत्कर्मो में क्रमशः कमी आती जाती है। इतिहास में हम अनेक सभ्यताओं के जन्म, विकास, क्षय तथा विनाश का अध्ययन करते हैं। इनमें श्रेष्ठ दृष्टान्त है – रोमन साम्राज्य, जिसका एडवर्ड गिब्बन ने अपने Decline and Fall of the Roman Empire (रोम-साम्राज्य का क्षय और विनाश) नामक ग्रन्थ में भलीभाँति चित्रण किया है। यहाँ शंकराचार्य जो कुछ कहते हैं, यह उसी का एक निदर्शन है। गिब्बन ने रोम साम्राज्य में शताब्दियों तक चलनेवाले नैतिक तथा मानवीय मूल्यों के सतत क्षय और अन्ततः बर्बर जातियों के आक्रमण द्वारा उसके अन्तिम पतन का सजीव वर्णन किया है।

भारत ने भी अपने पिछले पाँच हजार वर्षों के इतिहास के दौरान ऐसे क्षय का अनुभव किया है; परन्तु उसने इसकी अन्तिम परिणति अर्थात् मृत्यु को नहीं देखा। यहाँ प्रत्येक अधःपतन के बाद एक सक्रिय पुनर्जीवन आता रहा है। शंकराचार्य ने अपनी भूमिका के अगले अंश में यही बताया है –

जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायण आख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणः ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्णः किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन हि रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः तदधीनत्वात् वर्णाश्रम-भेदानाम् – "अतएव जगत् की स्थिति को सुरक्षित रखने की इच्छावाले वे आदिकर्ता नारायण नामक श्री विष्णु भगवान भूलोक के ब्रह्म (वेद) तथा ब्राह्मणत्व की रक्षा करने हेतु वसुदेवजी से देवकीजी के गर्भ में अपने अंश से श्रीकृष्ण रूप में प्रकट हुए। ब्राह्मणत्व की रक्षा से ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है, क्योंकि चार वर्णों तथा चार आश्रमों की व्यवस्था उसी के अधीन है।"

वेदान्त कुम्हार द्वारा मिट्टी से घट बनाने के समान जगत् की सृष्टि नही बताता, बल्कि यह प्रज्वलित अग्नि से स्फुलिग या मकड़ी के अन्दर से उसके जाले के समान जगत् के अभिव्यक्त होने की बात कहता है। एक से अनेक निकलता है और बाद में उस एक में ही विलीन हो जाता है।

ब्राह्मणत्व – मानवीय विकास का लक्ष्य

कोई भी नेता, बुद्धिजीवी या पुरोहित सामाजिक पुनर्जीवन का यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता; केवल एक ईश्वरद्रष्टा व्यक्ति ही इसे कर सकता है। भारत के लम्बे इतिहास में बारम्बार ऐसी दिव्य आत्माएँ आविर्भूत हुई हैं और इस अंश में हम लगभग ३००० वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण के जन्म के रूप में हुई एक ऐसी ही घटना पर चर्चा कर रहे हैं। भारत में हमारे यहाँ मानवीय विकास एक मूलभूत विचार है, जिसमें व्यक्ति **तमस् से रजस्** और **रजस् से सत्त्व** में विकसित होता है। **पूर्ण सत्त्व**

में प्रतिष्ठित हो जाने पर व्यक्ति अत्यन्त विकसित और अपने भीतर दिव्यता अभिव्यक्त करता हुआ एक विशिष्ट श्रेणी का हो जाता है। भारत में हम लोगों ने इसी को मानवीय विकास का लक्ष्य समझा। किसी समाज में कैसे अधिकाधिक संख्या में ऐसे लोगों को उत्पन्न किया जाय? समाज के प्रत्येक सदस्य को यह लक्ष्य दे दिया जाता है और उसे इसको प्राप्त करने या कम-से-कम अपने जीवन को उसी दिशा में ले जाने का प्रयास करना चाहिए। वेदान्त कहता है कि हम अपनी स्वयं की गति से आगे बढ़ें, परन्तु उसी दिशा में बढ़ें। आधुनिक चिन्तन में जिसे 'सामाजिक सिद्धान्त' कहा जाता है, वह मात्र सामाजिक सांख्यिकी है। इससे काम नहीं चलेगा। वेदान्त बताता है कि समाज-शास्त्र को सामाजिक दिशा प्रदान करने की जरूरत है और मानव-जाति को मानवीय विकास का वह मार्ग अपना लेना होगा। वह दिशा है – एक **सात्त्विक** व्यक्ति बनना, किसी भी तरह की घृणा तथा हिंसा से रहित और सर्वदा प्रेम तथा उदारता से युक्त होना। जब समाज में ऐसे लोग होंगे, तब पुलिस की जरूरत नहीं होगी, यहाँ तक कि राजनीतिक सत्ता की भी जरूरत नहीं होगी, तो फिर कानूनों तथा नियंत्रणों की तो बात ही क्या है! इसका कारण यह है कि ये लोग आत्मसंयमी व्यक्ति होंगे और ये बाकी सभी लोगों के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का अनुभव कर चुके होंगे। भारत का विश्वास है कि जिस समाज में ऐसे सात्त्विक, आध्यात्मिक, विकसित तथा अपने अन्तर्निहित देवत्व को अभिव्यक्त करनेवाले लोगों की संख्या सर्वाधिक है, वही समाज सर्वाधिक उन्नत है। मूलभूत वेदान्तिक समझ के अनुसार ऐसे व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहते हैं, न कि दोषपूर्ण जातिप्रथा के सन्दर्भ में आनेवाले व्यक्ति को।

ब्राह्मण शब्द की सबसे प्राचीन परिभाषा हमें चार हजार वर्ष पूर्व के ***बृहदारण्यक उपनिषद् (३/८/१०)*** में प्राप्त होती है – **यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स कृपणो; अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति, स ब्राह्मणः** – "हे गार्गि, जो व्यक्ति इस अक्षर (ब्रह्म) को जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है, वह कृपण या दीन है। परन्तु हे गार्गि, जो व्यक्ति इस अक्षर (ब्रह्म) को जानकर इस लोक से जाता है, वह ब्राह्मण है।"

उपरोक्त मंत्र पर अपने भाष्य में शंकराचार्य 'कृपण' शब्द की परिभाषा करते हुए बताते हैं कि 'वह व्यक्ति जो धन से खरीदे गये दास आदि के समान दीन है'।

ब्राह्मणत्व के आदर्श पर भगवान बुद्ध के विचार

ईसापूर्व सातवीं शताब्दी में भारत में भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने प्रेम तथा करुणा का महान् सन्देश दिया और एक ऐसा संन्यासी-संघ बनाया जिसमें बिना किसी प्रकार का भेदभाव किये सभी जाति तथा वर्ग के लोगों को प्रवेश दिया जाता था। परन्तु उन्होंने **ब्राह्मणत्व** के आदर्श के प्रति परम सम्मान तथा प्रशंसा का भाव व्यक्त किया। **सुत्त पिटक** के अन्तर्गत आनेवाले **खुद्दक निकाय** के अंश रूप महान् बौद्ध ग्रन्थ **धम्मपद** का **ब्राह्मणवग्गो** नामक अन्तिम – २६वाँ अध्याय, पूरे-का-पूरा ही ब्राह्मण-आदर्श की प्रशंसा में है। उस अध्याय से कुछ चुने हुए श्लोकों के संस्कृत तथा हिन्दी में भावानुवाद यहाँ दिये जा रहे हैं –

यस्य पारं अपारं वा पारापारं न विद्यते।
निर्दरं च विसंयुक्तं तं अहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।।३।।

– "मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जिसके लिए न यह किनारा है, न वह और न दोनों; वह जो भय तथा आसक्ति से रहित है।

आसीनो विरजा ध्यायी कृतकृत्यो ह्यनाश्रवः।
उत्तमार्थं अनुप्राप्तं तं अहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।।४।।

– "मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जो ध्यानी है, वासनाओं से मुक्त है, स्थिर है, जिसका कार्य पूरा हो चुका है, जो बेदाग है और जिसने (सन्तत्व रूपी) सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लिया है।

स ब्राह्मणो वाहितपापको यः
समं चरेद्यः श्रमणः स उक्तः।
प्रव्राजयति आत्ममलं च यस्मात्
प्रव्राजितोऽसावभिधीयतेऽतः ।।६।।

– "उसने बुराइयों को दूर कर दिया है, इसीलिए वह ब्राह्मण कहलाता है; वह समभाव में रहता है, इसलिए श्रमण कहलाता है; उसने अपनी अपवित्रताओं को दूर कर दिया है, अतः वह परिव्राजित कहलाता है।

यस्य कायेन वचसा मनसा नास्ति दुःखदम्।
त्रिषु स्थानेषु संगुप्तं ब्राह्मणं तं ब्रबीम्यहम् ।।९।।

– "मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जो काय-वाक्-मन के द्वारा किसी को कष्ट नही देता और जो इन तीनों का संयम करता है।

न जटाभिः न गोत्रेण न जात्या ब्राह्मणो भवेत्।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स सुखी ब्राह्मणश्च सः।।११।।

– "जटा, कुल या जाति से कोई ब्राह्मण होता है; जिसमें सत्य तथा धर्म हो, वही सुखी है और वही ब्राह्मण है।

प्रज्ञा गभीरं मेधाढ्यं मार्गामार्गादि-कोविदम्।
उत्तमार्थं अनुप्राप्तं तं अहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ।।२१।।

– "मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जिसका ज्ञान गम्भीर है, जिसमें विवेक है, जो उचित-अनुचित मार्ग का विचार करता है और जिसे सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त हो गया है।

और इस आधुनिक युग में जातिवाद तथा छूआछूतवाद

का बड़ी कठोरता के साथ निन्दा करनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने भी मानव-विकास के इस ब्राह्मणत्व के आदर्श का गुणगान किया है। अपने 'भारत का भविष्य' विषयक व्याख्यान में वे कहते हैं (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. १८६-८७) –

"भारत में ब्राह्मणत्व हीं मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। इसे शंकराचार्य ने गीता के भाष्यारम्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए प्रचारक के रूप में कृष्ण के आने का कारण बतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए।"

और जातिवाद के दोषों का उल्लेख करते हुए, विशेषकर उच्चतर जातियों द्वारा विशेषाधिकार के दावों के प्रसंग में वे कहते हैं (वही, पृ.१८९-९०) –

"इस तरह के एकाधिकार और विशेष दावों के दिन बीत चुके। प्रत्येक अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि वह अपने कुलीन तंत्र की कब्र स्वयं ही खोदे और जितना शीघ्र इसे कर सके, उतना ही अच्छा है। वह जितनी देर करेगा, वह उतनी ही सड़ेगी और उसकी मृत्यु भी उतनी ही भयंकर होगी।"

हाल की कुछ शताब्दियों के दौरान हमने इस महान् ब्राह्मण शब्द को बिगाड़ डाला है और इसका तात्पर्य जाति विषयक अभिमान से युक्त एक ऐसे व्यक्ति से हो गया है, जो रजस् तथा तमस् से परिपूर्ण हो, जिसमें सत्त्व का लेश मात्र भी न हो और जो अन्य सभी जाति के लोगों को हीन दृष्टि से देखता हो। ब्राह्मण जाति द्वारा कम-अधिकार प्राप्त या बिना अधिकार प्राप्त लोगों से अपने लिए विशेषाधिकार का दावा करते हुए पिछले हजार सालों से इस महान् शब्द का ऐसा विकृत उपयोग होता रहा है। वर्तमान भारत की चेतना ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया है और वह भारतीय समाज को इस दोष से मुक्त कराने के लिए सक्रिय कदम उठा रही है।

उपनिषदों से लेकर बुद्ध तथा शंकराचार्य के दिनों तक हमें यही सिखाया गया था कि वही व्यक्ति इस शब्द का द्योतक है, जिसने ब्रह्म की अनुभूति कर ली हो और जो प्रेम तथा दया से युक्त हो। और इस भूमिका के अंश में प्रयुक्त हुआ **ब्राह्मणत्व** शब्द एक मानव-प्रकार का द्योतक है और ब्राह्मण शब्द का एक भाववाचक रूप है। **ब्राह्मणत्व** से तात्पर्य किसी व्यक्ति या समूह से नहीं, बल्कि विकास के एक उच्च स्तर से है, जो किसी विशेष जाति, वर्ग या राष्ट्र तक सीमित नहीं है। रूस, अमेरिका, चीन और सर्वत्र **ब्राह्मण** किस्म के लोग हैं। हमारे यहाँ एक अद्भुत धारणा है कि जगत् में एक दिव्य अवतार का आगमन होता है; वे कोई समाज-सुधार नहीं आरम्भ करते, क्योंकि यह तो बीमारियों को छोड़ उनके लक्षणों की चिकित्सा के समान सामाजिक समस्याओं का एक अत्यन्त सतही समाधान है। अवतार एक नवीन आदर्शवाद आरम्भ करते हैं, जो क्रमशः लोगों के हृदय-मन को अनुप्राणित करता है, इससे नैतिक तथा मानवीय जागृति उत्पन्न होती है और इसके फलस्वरूप सभी आवश्यक समाजिक सुधार स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं। वे दो चीजों की स्थापना करने को आते हैं – एक तो **सनातन धर्म** की महिमा तथा सार्वभौमिकता और दूसरा इस आदर्श प्रकार के व्यक्ति की रक्षा करने को, जो नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिमूर्ति है तथा जिसने मानवीय विकास के लक्ष्य रूप **ब्राह्मणत्व** की उपलब्धि कर ली है।

सभी लोगों को इसी दिशा में विकसित होना चाहिए। श्रीकृष्ण का जीवन **भौमस्य ब्रह्मणः ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं** – **भौमस्य ब्रह्मणः** – पृथ्वी के ब्रह्म अर्थात् वेद की, वेदों के अद्भुत दर्शन तथा अध्यात्म की रक्षा के लिए, जिनमें ये सार्वभौमिक विचार पाये जाते हैं। किसी को भी इस दर्शन से प्रश्न करने में संकोच नहीं करना चाहिए। यह दर्शन प्रश्नों का स्वागत करता है, क्योंकि यह युक्ति तथा अनुभूति पर आधारित है। द्वितीयतः, यह अत्यन्त सार्वभौमिक है और जाति, मत, राष्ट्र तथा नस्ल के भेदों को नहीं, अपितु पूरी मानव-जाति को एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है। वैदिक परम्परा का यही महत्त्व है। इसलिए वे इसे कहते हैं – **भौमस्य ब्रह्मणः** और **ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं** – भूमि के ब्रह्म और ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए। वेद या श्रुति या उपनिषद् में ईश्वर तथा मानव-विषयक केवल सार्वभौमिक सिद्धान्त ही निहित हैं। श्रीकृष्ण इनकी और **ब्राह्मण** कोटि के व्यक्ति की रक्षा करने आये थे, जो उस **श्रुति** का मूर्तिमान रूप है। इन दो बातों पर हमारी परम्परा तथा साहित्य में बारम्बार बल दिया गया है। इसकी उपलब्धि करने के लिए, इन द्विविध धर्म की व्यवस्था करनेवाले नारायण ने स्वयं **प्रवृत्ति** तथा **निवृत्ति** के निदर्शन स्वरूप उन प्रजापतियों तथा कुमारों का सृजन किया था; उन्होंने ही जब देखा कि जगत् पुनः गलत दिशा में जा रहा है; तो श्रुति के महान् सन्देश, जीवन में आध्यात्मिकता एवं श्रुति को मूर्त रूप देनेवाले **ब्राह्मणत्व** के आदर्श को सबल करने की इच्छा से वे वसुदेव तथा देवकी के पुत्र कृष्ण के रूप में आये; दिव्य अवतार का यही उद्देश्य है।

हम प्रायः ही सुनते हैं कि बौद्धधर्म ब्राह्मण-धर्म का विरोधी है। पाश्चात्य लेखकों ने ऐसी अनेक गलत बातें कही हैं, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि एक पुरोहित **ब्राह्मण** उन महान् पुस्तकों में उल्लेखित **ब्राह्मण** से भिन्न होता है। ऐसे अनेक महान् **ब्राह्मण** हुए हैं, जो पवित्र तथा पुण्यात्मा थे। आज जिन्हें हम देखते हैं, वे केवल पुरोहित **ब्राह्मण** हैं और निःसन्देह वे समाज की परेशानियों के महान् स्रोत है। परन्तु हमें कभी यह नहीं भूलना चाहिए कि इसका ठीक तात्पर्य क्या

है और इस कारण बुद्ध अवतार में आप स्वयं भगवान बुद्ध के द्वारा यही विचार व्यक्त किया जाता हुआ देखते हैं। ब्राह्मणों के प्रति उनके मन में अत्यन्त सम्मान का भाव था। बुद्ध जानते थे कि वे लोग सर्वोच्च आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उद्यमों में लगे हुए हैं और उनका जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण है। वैसे ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनमें लोग आदर्श के पूर्णत: अनुरूप नहीं हो पाते, परन्तु आदर्श को ही नहीं भुला दिया जाना चाहिए। बुद्ध के उपदेशों में **ब्राह्मण** तथा **श्रमण** शब्द बारम्बार आते हैं। बुद्ध कहते हैं **ब्राह्मण** और **श्रमण** – दोनों का सम्मान करो। **ब्राह्मण** लोग प्राय: गृहस्थ होते हैं और **श्रमण** संन्यासी। सात्त्विक जीवन बिताने पर गृहस्थ भी परम सम्माननीय हो जाते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही हम समझ गये थे कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर इस प्रकार के घृणा या शत्रुता से रहित तथा प्रेम व दया से युक्त हृदयवाले एक **ब्राह्मण** के रूप में विकसित होने की सम्भावना निहित है। आधुनिक युग में हमने महात्मा गांधी को देखा। वैसे जाति की दृष्टि से तो वे वैश्य थे, परन्तु अपने चरित्र से एक **ब्राह्मण** थे। उन्होंने किसी के प्रति, यहाँ तक कि दक्षिण अफ्रीका में जिस पुलिस ने उन पर लाठियों से प्रहार किया था, उसके प्रति भी घृणा नहीं दिखायी; और उन्होंने कचहरी में जाकर उन लोगों के खिलाफ गवाही देने से इन्कार कर दिया। आज भी ऐसे लोग विद्यमान हैं और गांधीजी के समान लोग हमें आश्वस्त करते हैं कि यह अवस्था प्राप्त करना असम्भव नहीं है। अत: हमें क्या करना चाहिए?

आधुनिक जीवविज्ञान कहता है कि विकासवाद के परिदृश्य में मनुष्य के प्रकट होने के साथ ही शारीरिक विकास की अब कोई प्रासंगिकता नहीं रह गयी है; मनुष्यों का उच्चतर मस्तिष्क अद्भुत कार्य कर सकता है; अब हमें उच्चतर स्तर पर विकास को जारी रखना होगा, और सर जूलियन हक्सले इसे मनो-सामाजिक विकास कहते हैं, जबकि वेदान्त इसे आध्यात्मिक विकास कहता है। जीवविज्ञान को स्वयं ही मानवीय विकास का लक्ष्य नहीं प्राप्त हो सका है। तथापि इसने यह निष्कर्ष निकाला है कि लक्ष्य परिमाण से नहीं बल्कि प्रकार से नियंत्रित होगा। यही वह प्रकार है, जिसे भारत **ब्राह्मणत्व** के आदर्श में इसके परिपूर्ण रूप में देखता है। यह रहा आदर्श और ये रहे उसके कुछ उदाहरण; अब उस दिशा में आगे बढ़िये। आप **तमस्** से परिपूर्ण एक साधारण व्यक्ति हो सकते हैं। कोई बात नहीं, परन्तु आपके जीवन में प्रगति है और वह प्रगति इसी दिशा में है। जब लोगों के समक्ष यह आदर्श रखा जायेगा, तो सम्पूर्ण भारत पूरी तौर से रूपान्तरित हो जायेगा। अपनी शक्ति के अनुसार उस दिशा में आगे बढ़िये। एक कदम, दो कदम, तीन कदम और आपके जीवन में अद्भुत परिवर्तन आयेगा। मानवीय उत्कृष्टता का यह **ब्राह्मण-आदर्श** अमेरिका, रूस, जर्मनी, चीन और सर्वत्र अपनाने योग्य है। आज हमें यही समझने की जरूरत है कि सामाजिक विकास का यही लक्ष्य है। वर्तमान समाज-शास्त्र का अधिकांश भाग केवल सामाजिक सांख्यिकी है, पर सच्चा समाज-शास्त्र वह है जो मानव की आध्यात्मिक प्रगति तथा सामाजिक विकास पर बल देता है। इस दिशा में विकसित होनेवाले समाज की क्या विशेषता होगी? इसे हम आध्यात्मिक दिशा कहते हैं। मानवीय स्तर पर आध्यात्मिक दिशा ही विकास का लक्ष्य है। २०वीं सदी के जीवविज्ञान में क्रमश: स्वीकार किया जा रहा है कि हमें इस शारीरिक, ऐन्द्रिक सीमा से बाहर निकलना होगा; यह उच्चतर मस्तिष्क इसी के लिए है। वे अब मनो-सामाजिक विकास की बात भी कहते हैं। ऐसा मन जो समस्त लोगों तथा समाज के साथ एकत्व का बोध कर सके। तब कोई शोषण नहीं होगा और यही **ब्राह्मण** भाव है।

अत: २०वीं सदी के जीवविज्ञान द्वारा प्रत्येक समाज को विकास के लिए दी गयी दिशा इस **ब्राह्मण** प्रकार की ओर ही है। आचार्य के भाष्य में आये इस वक्तव्य का यही महत्त्व है।

वेदान्त के अनुसार मानवीय विकास का यही मार्ग तथा लक्ष्य है। लोगों को विकास के इसी मार्ग पर चलाने के लिए, उन्हें थोड़ा सहारा, थोड़ी प्रेरणा देने के लिए ईश्वर के अवतार आते हैं। जब यह प्रेरणा प्राप्त होती है, तो क्रमश: अनेक बुराइयाँ दूर हो जाती हैं, क्योंकि आपका दृष्टिकोण बदल जाता है, आपका मूल्यबोध बदल जाता है, और आप अपने जीवन को किसी उच्चतर उद्देश्य के साथ जोड़ देते हैं। जो छोटी-मोटी गलतियाँ आप करते हैं, वे हानिकर नहीं हैं। यह मानवीय प्रगति तथा विकास का भाव है और केवल युग-प्रवर्तक ईश्वरावतार ही इस तरह का कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। आध्यात्मिक ऊर्जा की इस प्रचण्ड धारा को आरम्भ करने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह केवल इसी तरह के व्यक्ति से आ सकती है, जिन्हें हम अवतार कहते हैं। आप किसी अन्य शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। यह एक असाधारण शक्ति है, जो एक साधारण सन्त में भी नही मिलती – एक ऐसी असाधारण शक्ति जो एक नये युग की शुरुआत कर सकती है। ऐसे लोग केवल कुछ की संख्या में होकर भी विश्व को हिलानेवाले होते हैं। श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसामसीह को हम विश्व को हिलानेवाले व्यक्तित्व मानते हैं और आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण हैं। यह हमारी सम्पूर्ण परम्परा की पृष्ठभूमि में एक अद्भुत अध्ययन है। जब बुरे दिन आ जाते हैं, तो उसी शक्ति को दुबारा आना पड़ता है और वे आते हैं। श्रीकृष्ण आगे गीता के चौथे अध्याय में कहेंगे कि उनके साधारण मनुष्य के रूप में आने के कारण

शेष अगले पृष्ठ पर

विवेकानन्द-साहित्य पढ़ने से लाभ

स्वामी योगस्वरूपानन्द

क्या आप सनातन धर्म के विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत हैं? क्या आप 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से अपने जीवन को साकार करना चाहते हैं? क्या आप अपने राष्ट्र से प्रेम करते हैं? क्या आप अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा करते हैं? क्या आप अपने देश के प्राचीन स्वाभिमान से परिचित होना चाहते हैं? क्या आप अपनी राष्ट्रीय विरासत सभी क्षेत्रों के महान् पुरुषों से अवगत होना चाहते हैं?

यदि हाँ, तो आइये, हम वैदिक ऋषियों एवं महान् पुरुषों की श्रृंखला में आने वाले एवं प्राचीनता और आधुनिकता के समन्वयक, विश्व-पथ-प्रदर्शक, नवभारत के प्रणेता, तप:पूत, मनीषी-प्रवर स्वामी विवेकानन्द जी से परिचित हों। जिन्होंने शिकागो में विश्वधर्मसम्मेलन के मंच पर भारतीय संस्कृति का ध्वजोत्तोलन कर विश्व को आध्यत्मिकता का उपदेश दिया था। जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण भारत की परिव्राजक यात्रा-अवधि में मानवीय सम्वेदनाओं को समझा था और भारतवासियों को पुनर्जागृत किया था। जिन्होंने देश-विदेश के विभिन्न भागों से अपने गुरुभाइयों, शिष्यों, भक्तों, मित्रों और अनेक परिचितों को अनेकों प्रेरणाप्रद पत्र लिखकर उन्हें मानव-सेवा में संसार के विभिन्न भागों में संलग्न किया था। ऐसे तेजस्वी स्वामी विवेकानन्द के ओजस्वी विचार हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। हमें केवल अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न कर, उनसे संयुक्त होकर, उनका अध्ययन कर, उन्हें आत्मसात् कर अपने जीवन को सँवार लेना है।

उनके पवित्र सक्रिय जीवन और अनवरत विश्व-कल्याणार्थ चिन्तन का एकमात्र प्रकाशक साहित्य है – स्वामी विवेकानन्द की जीवनी, व्याख्यान तथा लिखित ग्रन्थ, जो मानवीय समस्याओं का तर्कपूर्ण, युक्तिसंगत एवं विज्ञानपरक समाधान देते हैं।

मानवता आज एक संक्रान्ति के काल से होकर गुजर रही है। सम्पूर्ण जगत् में अब जाति, जन्म, राष्ट्रीयता आदि से निरपेक्ष एक सार्वभौमिक मापदण्ड के आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन किया जाता है। सर्वत्र ही लोगों को मानो एकता के साँचे में ढाला जा रहा है। और जो लोग इस प्रक्रिया से सामंजस्य नहीं बैठा पाते, उनकी हालत 'जल बिनु मछली' जैसी हो जाती है। संसार के प्रत्येक भाग में सभी प्रकार के लोग देखने में आते हैं। तात्पर्य यह कि हम ऐसा नहीं कह सकते कि किसी विशेष स्थान का किसी विशेष समूह किन्हीं विशेष गुणों से युक्त है। इससे निम्न तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं –

१. सर्वत्र लोगों का ऐसा अद्‌भुत अधिमिश्रण प्राप्त होता है कि आप सीधे यह परिभाषित नहीं कर सकते हैं कि किसी एक क्षेत्र के लोगों के लिये क्या अच्छा और क्या बुरा है।

२. परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार नैतिकता तथा धर्म आदि की परिभाषा भी संशोधित होनी चाहिये।

३. प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अधिकाधिक अनिवार्य हो जाता है कि कोई बाह्य ग्रन्थ या शिक्षक चाहे कितना भी प्राचीन या पूज्य क्यों न प्रतीत हो, उसकी अपेक्षा वह अपने स्वयं के निर्णय तथा बुद्धि पर निर्भर करे।

४. अन्तिम बिन्दु के निष्कर्ष के रूप में व्यक्ति को जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए पर्याप्त बल, साहस तथा स्वाधीन चिन्तन-शक्ति अर्जित कर लेनी चाहिये।

स्वामी विवेकानन्द का साहित्य हमें उपरोक्त सभी बिन्दुओं के समाधान प्रदान करता है। यदि यह एक दृष्टि से साहित्य है, तो दूसरी दृष्टि से शास्त्र है। साहित्य के रूप में यह माँ के समान् व्यक्ति को हास्य-विनोद, संवेदना और सान्त्वना प्रदान करता है, तो शास्त्र के रूप में यह प्राचीन गुरुओं के सदृश हमारा मार्गदर्शन करता है। लेकिन इसके निर्देशन की पद्धति परम्परागत पद्धति से थोड़ी भिन्न है। इसमें कभी कभी आपको लगेगा कि शिक्षक स्वयं ही आपके साथ बैठकर आपको निर्देश प्रदान कर रहे हैं, जबकि कभी कभी वे निर्देश बड़े कठोर प्रतीत होते हैं। वार्तालाप और संवाद और कविताओं के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

बहुत-से लोग उन्हें नहीं पहचान पाते। तथापि समय बीतने के साथ-साथ वे करोड़ों लोगों द्वारा पहचान लिए जाते हैं। एक महान् व्यक्ति के अति निकट होने के कारण हम उन्हें पहचान नहीं सकते। श्रीकृष्ण द्वारा चौथे अध्याय में वर्णित होनेवाली **अवतार** की यह धारणा **सनातन धर्म** तथा ईसाई धर्म का एक केन्द्रीय भाव है। अन्य किसी भी धर्म में **अवतार** की यह धारणा नहीं है। इस आधुनिक युग में एक बार फिर वैसा ही समायोजन आवश्यक हो गया और श्रीरामकृष्ण के रूप में एक महान् व्यक्ति का जन्म हुआ। धर्मग्रन्थों के रूप में हमारे पास उपदेश हैं, परन्तु हम उनका मर्म तथा उन पर कैसे चलें, यह समझ नहीं पाते। किसी को आकर हमें एक नवीन अन्तर्दृष्टि प्रदान करनी पड़ती है। इसे कौन करेगा? इसे विद्वान् या पुरोहित या प्राध्यापक नहीं कर सकता। वे लोग भला जानते ही क्या हैं? इसके लिए एक प्रबल आध्यात्मिक व्यक्तित्व की आवश्यकता है और वे चुपचाप आकर धीरे से आध्यात्मिकता का एक नया प्रवाह आरम्भ कर जाते हैं। वही आध्यात्मिकता क्रमशः थोड़ा थोड़ा करके लोगों को ढँक लेती है और धीरे धीरे दुनिया को बदल डालती है। ❖ (क्रमशः) ❖

प्रसंग में 'विवेकानन्द साहित्य' आपको मानसिक और आध्यात्मिक बीमारियों के लिए ऐसी समुचित औषधि प्रदान करता है, जो उसके लिए अचूक चिकित्सा साबित होती है। जैसा कि पहले बताया गया है, वर्तमान युग में कोई भी साहित्य या शास्त्र यदि पूरी मानवता को सम्बोधित किया हुआ न हो, तो वह लोगों के मन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाता।

यहाँ इस प्रकार का साहित्य उपलब्ध है। इसे चाहे कोई जर्मन पढ़े या अमेरिकन पढ़े, चाहे कोई यहूदी पढ़े या अँग्रेज पढ़े, चाहे कोई चीनी पढ़े या रूसी पढ़े, सभी निश्चित रूप से ऐसा अनुभव करेंगे मानो स्वामीजी उन्हीं को सम्बोधित कर रहे हों। भारत के सन्दर्भ में, जहाँ असंख्य जातियों तथा संस्कृतियों का निवास है, एकमात्र यही साहित्य – मोची से लेकर उच्च स्तर के बुद्धिजीवियों तक और निर्धन किसान से लेकर अमीर व्यापारियों तक – सभी श्रेणी के लोगों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है।

इस 'साहित्य' में प्रत्येक सम्प्रदाय के व्यक्ति को, न केवल विश्व के सभी शास्त्रों का सार मिल जाता है, अपितु यह अद्वैत, योग आदि के जटिल तत्त्वों की सुबोध व्याख्या भी प्रदान करके उसके हृदय को परिपूर्ण कर देता है। इसके साथ ही यह आपको अपने लिए उपयुक्त धर्मपथ के चयन हेतु अनुकूल सुझाव भी देता है।

घटना चाहे भारत की स्वतंत्रता की हो या साम्यवाद के उदय से सम्बन्धित हो, एक इतिहासकार को उन्हें ठीक ठीक समझने के लिए इस 'साहित्य' में यथेष्ट संकेत मिलेंगे।

इसमें चर्चित डार्विन के विकासवाद से लेकर बेतार के सिद्धान्त तक और थर्मो-डायनेमिक्स से लेकर विद्युत के सिद्धान्त तक में एक वैज्ञानिक को भी इसमें अपनी बुद्धि के लिए पर्याप्त खुराक मिल सकेगी।

एक ऐसा अज्ञेयवादी, जो बिना ठोस प्रमाण के ईश्वर, आत्मा आदि विषयक विचारों को स्वीकार नहीं करता, उसे भी इस 'साहित्य' में ऐसे असंख्य विचार मिलेंगे, जो उसे इस प्रातिभासिक जगत् के पीछे स्थित एक सत्ता के अस्तित्व के विषय में सोचने को मजबूर कर देंगे और इसके फलस्वरूप वह अन्ततः सत्य की उपलब्धि कर लेगा।

एक भाग्य का मारा, जीवन से पूर्णतः हताश और निरुत्साहित व्यक्ति भी इस साहित्य के पन्नों में ऐसे विचार पायेगा, जो न केवल उसकी मानसिक पीड़ाओं पर शीतल मरहम का काम करेगा, बल्कि अपनी थकी-बुझी स्नायुओं में नवशक्ति के संचार का अनुभव करेगा और अपनी जीवन-यात्रा पर पुनः प्रस्थान करने को नया उत्साह भी प्राप्त करेगा।

इतने विविध प्रकार के लोग 'विवेकानन्द साहित्य' से लाभ उठा सकते हैं – यह तथ्य स्वयं ही निश्चित रूप से यह सिद्ध करता है कि ये ग्रन्थ इस युग के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक हैं।

'विवेकानन्द साहित्य' का अध्ययन करते समय एक बात हमेशा ध्यान में रखने योग्य है। ये पुस्तकें हमेशा खुले मस्तिष्क के साथ पढ़ी जायँ। जो कोई भी विचार सामने आये, उसे आँखें मूंदकर स्वीकार मत कर लो, बल्कि बीच बीच में प्रश्न उठाकर उन विचारों को चुनौती दो, क्योंकि स्वामीजी को यही पद्धति पसन्द थी। भगवान बुद्ध का वह विख्यात उपदेश यही कहता है – "जो तुमने सुना है, उसमें विश्वास न कर लो; न इसीलिए विश्वास कर लो कि ये सिद्धान्त तुम्हें पिछली पीढ़ियों से प्राप्त हुए हैं; किसी बात में इसलिए विश्वास न कर लो कि उसे लोग अन्धों की तरह मानते हैं; न इसलिए विश्वास करो कि कोई वृद्ध महर्षि कुछ कह रहे हैं; न उन सत्यों में विश्वास कर लो, जिनसे आदतवश तुम्हारा सम्बन्ध हो गया है; और न अपने गुरुओं अथवा वृद्ध जनों के प्रमाण-पत्र पर विश्वास कर लो। अपने आप सोचो, विश्लेषण करो, और तब यदि निष्कर्ष तुम्हें बुद्धिसंगत तथा सबके लिए हितकर लगे, तो उसमें विश्वास करो और उसे अपने जीवन में ढाल लो।"[१] ये ही शब्द स्वामीजी के विचारों पर भी लागू होते हैं। वे भी अपने पाठकों से सर्वदा यही कहते हैं कि उनके विचारों का भी पूर्वोक्त शैली से ही मूल्यांकन किया जाय। खोजी दृष्टि से प्रारम्भ कीजिए; ऐसे मन के साथ, जो अन्धविश्वासों के ढेर का भेदन कर सके और इसी प्रकार आपको 'विवेकानन्द साहित्य' से समुचित लाभ मिल सकेगा; नहीं तो, यह प्रारम्भ में आपको आकृष्ट करेगा, परन्तु शीघ्र ही यह उत्साह चला जायेगा और वे शब्द आपको साधारण तथा ऊबाऊ प्रतीत होने लगेंगे।

निष्कर्ष के रूप में, हम जाति, वर्ग तथा लिंग से निरपेक्ष संसार के सभी लोगों को यह अमृत-सुधा पीकर सांसारिक अस्तित्व से मुक्ति पाने का आमंत्रण देते हैं, जैसा कि स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई के नाम एक पत्र के द्वारा[२] सबको श्रीरामकृष्ण के इस उपदेशों-रूपी अमृत-सुधा का पान करने को आमंत्रित किया था।

जिन शब्दों ने सुभाष चन्द्र बोस को नेताजी बना दिया, मोहनदास करमचन्द गाँधी को सच्चा देशभक्त बना दिया और जिन्होंने रोमाँ रोलाँ के शरीर में विद्युत् के-से आघात तथा सिहरन उत्पन्न किये, ये शब्द जड़ से तेजस्वी वीरों को उत्पन्न करते रहेंगे और लोगों को आलोक के राज्य की ओर आकृष्ट करते रहेंगे, जो इन महान् धर्माचार्य का शाश्वत धाम है।

❑❑❑

१. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड २, पृ. २७६
२. वही, खण्ड ३, पृ. ३०५-३१४

आत्मश्लाघा का दोष

भैरवदत्त उपाध्याय

आत्मश्लाघा, आत्मस्तुति, आत्मप्रशंसा, आत्मकीर्ति आदि समानार्थी है। जिस प्रकार पर-निन्दा और आत्म-निन्दा कल्याणकारी नहीं है, उसी प्रकार आत्मस्तुति भी हितकर नहीं है। यह आवश्यक है कि जिस प्रकार निन्दा-रस नौ रसो से ऊपर है, उसी प्रकार आत्मस्तुति भी वह रस है, जो सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है। साहित्यकारों की दृष्टि उस पर नहीं गई, पर चर्चा-रसिकों ने उस पर ध्यान दिया। इसलिए बतरस लालच-लाल कृष्ण ने गीता में उसका दो बार उल्लेख किया है और दोनो बार इसकी ओर उपेक्षा करने की अनुशंसा की है। गीता के बारहवें अध्याय में उल्लेख है –

तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमति भक्तिमान् मे प्रियो नर:।।१२/१९

इसी प्रकार गीता के चौदहवे अध्याय में कहा है –

समदु:ख सुख: स्वस्थ:
समलोष्टाश्मकाञ्चन:।
तुल्य प्रियाप्रियो धीर:
तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति:।।
१४/२४

अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अपनी निन्दा और स्तुति को समान समझता है, दुखी तथा सुखी नही होता है, वह स्थितप्रज्ञ है, वही मनुष्य भक्तिमान तथा भगवान का प्रिय है, वही धैर्यवान, धीर तथा धैर्यशाली है, वह प्रणम्य और वन्दनीय है, परन्तु जो सांसारिक प्राणी मायालिप्त तथा प्रपञ्च में आपाद निमग्न है, उसे तो पर-निन्दा एवं स्वकीर्ति का कथन तथा श्रवण अत्यधिक रसमय लगता है, क्योकि प्रथम से दूसरे को छोटा और द्वितीय से अपने को बड़ा समझने का भ्रम पलता है। दूसरे की रेखा को छोटी तथा अपनी रेखा को बड़ी देखकर किसको आनन्द नहीं मिलता? यह 'स्व' की सीमा भी इतनी बड़ी नहीं होती कि जिसमें कुटुम्ब या परिजन समाहित हो सकें। इसमें तो केवल एक ही व्यक्ति केन्द्र-बिन्दु होता है और स्वयं आत्मस्तुति का ताना-बाना बुनता है। इसमे सत्य-असत्य का या कहें पूर्ण असत्य, मिथ्या एवं असम्भव कल्पना के धागों को इतनी सूक्ष्मता से गुँथा जाता है कि देखने-सुनने वालों को कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस कथा का श्रोता धैर्यवान, अन्धा, अज्ञ तथा गतसन्देह होता है। इसमें बिना अनुमति के कोई प्रश्न या प्रतिप्रश्न नहीं होते। यह कथा उत्तम पुरुषीय तथा एकवचनीय होती है। वह कथा का स्वयं शिल्पी तथा नायक और रस का भोक्ता होता है। पूर्ण स्यन्दमान मधु को पीकर आप्यायित होकर भी पुन: पान के लिये लालायित रहता है। सौ घड़ों के मधु को पीनेवाला वह इन्द्र है, जो कल्पित स्वर्ग का एकमात्र राजा है, 'स्वस्तुति' को 'स्वाभिमान' और परस्तुतियाँ जो वास्तव में स्वस्तुतियाँ ही होती हैं, को गर्वोक्तियाँ कहता है, क्योंकि दूसरो की आत्मस्तुतियों को अतिशयोक्ति मानकर गर्वोक्ति मानता है, जबकि उसकी आत्म-स्तुतियाँ गर्वोक्तियाँ ही होती है, आत्मस्तुति में अहंकार होता है।

मान, अभिमान, स्वाभिमान, दर्प, दम्भ आदि अहंकार के ही रूप हैं। इनमें भारी अन्तर नही होता। एक छोटा-सा पतला धागा ही होता है, जो दिखाई नहीं देता। अहंकार की हवा जब बहती है, तब रेत के ढूहे कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं। पुराने चिह्नों को पहचानना कठिन हो जाता है। गुणता की चेतना या श्रेष्ठता का भाव अति से अधिक छलकने लगता है। अच्छे-से-अच्छा काम हमें रास नहीं आता। दूसरों को निकृष्ट समझकर हम निन्दा करते हैं और अपनी प्रशंसा करने लगते हैं। वस्तुत: दोनों ही रूप आत्महीनता की ग्रन्थि को छद्म अभिव्यक्तियाँ है। आत्मनिन्दा में व्यक्ति अपने आप को कोसता है, गालियाँ देता है, बात बात में अपनी बवकूफी पर दाँत पीसता है और दुखी होता है; जन्म, जाति, रूप, वेष आदि को तुच्छ समझता है, उसी प्रकार आत्मश्लाघा में ये सभी श्रेष्ठ लगने लगते है। पराक्रम की कल्पित कथाएँ मरुस्थल की उद्यान-लतिकायें बन जाती हैं, जिनकी कल्पित छाया तथा शीतल वायु में आनन्दमग्न हो जाता है। दोनो स्थितियाँ अन्त में सुखमय नही होती। ऐसा व्यक्ति अपनी प्रशंसा वास्तविक समझने लगता है। श्रीमद्भागवत में नकली वासुदेव की कथा चर्चित है। उस वासुदेव में यह भाव मन के भीतर भर गया था कि मै ही वासुदेव हूँ। आत्मनिन्दा या परनिन्दा के भावों में व्यक्ति डूबता और उतराता है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी तपती है और वर्षा के आगमन पर वह पुलकित होती है, उसी प्रकार निन्दा के

अनमोल बोल

* मनुष्य का मन जो कुछ सोच सकता है तथा जिस पर विश्वास कर सकता है, उसे पा भी सकता है।

* जिसे ईश्वर की कृपा मिलती है, उसका एक लक्षण है – भीतरी प्रशान्ति, एक ऐसी दिव्य शान्ति जिसे कोई संकट, कोई कठिनाई या हताशा नष्ट नहीं कर सकती।

* हम उन चीजों से थकते हैं, जिन्हें हम दिल से नहीं करते; उन चीजो से नहीं, जिन्हें दिल से करते हैं।

* ईश्वर में विश्वास से प्राप्त होनेवाली शक्ति हमें स्वयं में विश्वास करने की ताकत देती है।

उपरान्त परम शान्ति का अनुभव होता है। आत्मस्तुति में यह भाव शुरू से अन्त तक रहता है। आत्मस्तुति का समारम्भ शान्त रस से होता है, पर अन्त कठोर रसों में होता है, परिणति दुखदायी होती है, सुखद नहीं।

आत्मस्तवन में यदि अहंकार है, तो परस्तवन अर्थात् मध्यम पुरुष के स्तवन में चाटुकारिता। चाटुकारिता किसी स्वार्थ से प्रेरित होती है। आत्मस्तवन में अपनी उदारता, पराक्रम, वैभव, वंश आदि की प्रशस्ति होती है, दूसरे को प्रभावित करना मात्र इसका उद्देश्य है। पर कभी कभी वह गलत भी हो जाता है। चाटुकारिता में सामने आनेवाले की प्रशंसा की जाती है। लोग सुनने को आतुर रहते हैं। चाटुकार अपने कर्मकौशल से थकते या अघाते नहीं हैं। पुरातन युग में चारण या भाट राजा की कीर्ति-गाथा सुनाने के लिये पदस्थ किये जाते थे। आज मन्त्रियों और अधिकारियों के आसपास चाटुकारों की भीड़ लगी रहती है, वे परम चतुर होते हैं, उनकी दृष्टि लक्ष्य पर सधी रहती है और वे अपने कार्य को बनाने में जुटे रहते हैं। चाटुकारिता के महामंत्र को धारण कर स्वार्थ के महासागर को पार करना ही उनका लक्ष्य रहता है।

अपने एक मित्र हैं। उन्हें आत्मस्तुति की बड़ी भूख है। उन्हें कुछ कार्यों के लिये प्रमाणपत्र दिये गये हैं। उन्होंने महीनों तक उसे अपनी जेब में रखा, जब कोई मिला, उसे निकालकर दिखा देते, जब भी सामान्य चर्चा होती, उनका हाथ अनायास ही जेब में चला जाता और प्रमाणपत्र निकालकर दिखाने लगते। चाटुकारों की भीड़ लगी रहती, जो जितना कुशल होता उनके समीप जाकर अपना काम बना लेता या दूसरे का बिगाड़ देता। उन्होंने अनेक प्रमाणपत्र इस प्रकार के भी बनवा लिये थे कि अँग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत भाषाओं के परम निष्णात हैं। सीमा यहाँ तक बढ़ गयी कि उनके घर में भी बच्चे यह पूछ लेते – "पापा जी, आपने किस सज्जन से कौन-सा प्रमाण-पत्र लिया था।" आत्मविभोर होकर वे अपनी कहानी बताने लगते, यह गुण बच्चों में भी वंशानुक्रमण से प्रकट होने लगा और समाज में समूचा परिवार चर्चित हो गया।

आत्मस्तवन एक रोग है, मीनिया है, झख है। व्यक्ति आत्मकेन्द्रित, आत्माभिमुखी तथा स्वकेन्द्रित हो जाता है। आत्मप्रशंसा से व्यक्ति कितना ही महान् हो, क्षुद्रता को प्राप्त करता है – **इन्द्रोऽपि लघुतां यांति, स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।** गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने आत्मप्रशंसा के रोग से बचने के लिये सचेत किया है।

❑❑❑

प्रभु से प्रार्थना

मित्र सेन सिंघल, लॉस एंजेल्स, अमेरिका

सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

राम हमें दो मैत्रि-भावना, सहनशीलता पर-उपकार
जनगण का मन निर्मल कर दो, शुद्ध बुद्धि का हो संचार।
सूरज-रूप प्रकाश दिखाकर हर लो मेघ जनित अज्ञान
रूप तुम्हारा देखूँ सबमें, बैर-भाव का रहे न भान।
सत्युग, त्रेता, द्वापर, कलियुग – सबका मेल होवे रे।
सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

आतम एक सभी में रहता, चर औ' अचर बराबर जान
उसी आत्म का बोध करा दो, करो विदेह मुझे भगवान।
त्रिगुणमयी माया में फँसकर इस जग में भरमाया हूँ
निज स्वरूप का बोध करा दो – कौन, कहाँ से आया हूँ
सत-रज-तम की इस दुनिया से मुक्ति हमारी होवे रे।
सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

देखूँ केवल रूप तुम्हारा, और न कोई ज्ञान रहे
ध्यान करूँ मोहन मूरत का प्रेम-भक्ति में चित्त बहे।
मानव की दुर्बलताओं को धीरज-सह दिन-रात सहें
काम-क्रोध औ लोभ-मोह, मेरे जीवन से दूर रहें।
अन्तर के अवगुण-दोषों पर, सहज नियंत्रण होवे रे
सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

तूफानों से नाव घिरी हो, या हो सागर महा प्रशान्त
विचलित किन्तु न हो मन मेरा, ध्यान तुम्हारा रहे नितान्त।
शरणागत हम दास तुम्हारे, है पतवार तुम्हारे हाथ
नैया के हो तुम्हीं खिवैया, इसका रहे अटल विश्वास।
मैं हूँ यंत्र, प्रभो तुम यंत्री – स्मरण रहे हर पल हर क्षण
तन-मन-धन के स्वामी तुम हो, तुमको ही सब हो अर्पण।
केवल यही याचना मेरी, सर्व समर्पण होवे रे
सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

कितनी सुन्दर लगती गलियाँ, महफिल है रंगीन यहाँ
मधुर शब्द औ रूप मनोहर, हर लेते मन की दुनियाँ।
भले-बुरे नित नये प्रलोभन, खींच रहे निज बाहों में
समझ न लें इसको हम मंजिल, भटक न जायें राहों में।
इससे बचना मेरे प्रभु, मेरे बूते की बात नहीं
हाथ अगर तुम थामे रखो, फिर भय की औकात नहीं
ठाकुर मेरे, भगवन् मेरे, जो सूझी सो बात कही
ध्यान न छूटे तब चरणों का, मेरी अन्तिम अरज यही
मेरा जीवन तेरे हाथों – भाव सदा यह होवे रे
सबका मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होवे रे॥

एक संन्यासी की भ्रमण-गाथा (२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो सम्भवत: रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। हमें एक जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली है, जो हमें अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रतीत हुई, अतएव 'विवेक-ज्योति' के पाठको के हितार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

नर्मदा किनारे (ओंकारनाथ के पास)

परिव्राजक संन्यासी नर्मदा-तट पर भ्रमण कर रहा था। विराट् तीर्थरूप इस तटभूमि में बहुत-से साधु-सन्त तपस्वी विचरते रहते हैं, बहुत-से ऐसे हैं, जो परिक्रमा करते रहते हैं – अमरकण्टक (म.प्र.) से लेकर अरब समुद्र तक और फिर दूसरे तट से अमरकण्टक तक – इस प्रकार परिक्रमा करते रहते हैं। नर्मदा किनारे स्थित गाँवों के निवासी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उदार दिल से अन्न आदि दान किया करते हैं।

कुछ गृहस्थ तीर्थवासी भी है, जो सपत्नीक परिक्रमा करते रहते हैं; कुछ वानप्रस्थी भी हैं और अधिकांश गाँवों के पास आश्रम, संताराम, विश्राम आदि तथा साधु, तीर्थवासियो की कुटिया, मन्दिर या आश्रय होते हैं। इसलिए परिभ्रमण करनेवालों को आश्रय के साथ ही भिक्षादि भी मिल जाती है। बहुत-से तपस्वी भी वर्षों से तप करते मिल जाते हैं, उत्तम त्यागी सन्तों का दर्शन भी मिल जाता है। पौराणिक युग से आज तक इस पवित्र नर्मदा-तट पर यह चालू है। ...

निर्मल सलिला नर्मदा की तटभूमि रम्य है, कहीं कहीं भयंकर पहाड़, जंगल है, खासकर ओंकारनाथ के आजू-बाजू, होसंगाबाद के पास और जबलपुर के आसपास के जंगल-प्रदेश हिंस्र पशुओं से परिपूर्ण है। अन्य जीव-जन्तु आदि भी काफी संख्या में हैं। गोंड, भील, कोल इत्यादि आदिवासी इस पार्वत्य जंगल-प्रदेश में निवास करते हैं।

संन्यासी नर्मदा-तट पर भ्रमण करता हुआ जब ओंकारनाथ के आसपास एक गहन वन की सीमा पर पहुँचा, तब शाम हो आयी थी। तट पर एक सुन्दर छोटी-सी झोपड़ी, बाहर आँगन लिपा-लिपाया पड़ा है; एक छोटी-सी धूनी भी है, वहीं रात बिताने के इरादे से संन्यासी गया और बैठे हुए दो-तीन ब्रह्मचारियों को सूचित किया। "खुशी से इधर पड़े रहिए" – कहकर उन्होंने आसन लगाने के लिये बाहर एक जगह बता दी। "गुरु महाराज समाधि में हैं, उनके बाहर निकलने का समय हो गया है, आने के बाद दूध पीते हैं। आपको रोटी खानी हो, तो गाँव में इस आदमी के साथ चले जाइए, दूध इधर ही आ जाता है।"

"दूध से ही काम चल जायेगा" – कहकर संन्यासी नर्मदा में स्नान करने गया, इतने में संन्यासी योगिराज समाधि से उठकर स्नानार्थ उधर आये, मिलना हुआ। अच्छे शान्त-स्वभाव के प्रियदर्शन थे। बातचीत हुई, फिर एक साथ धूनी के पास बैठकर दूध पीते समय दो-दस मिनट योगशास्त्र के समाधिपाद के विषय पर चर्चा हुई। "आज ठहरिए, आपके साथ इस विषय पर अधिक चर्चा करना चाहता हूँ, कल दोपहर को भोजन के बाद समय रहेगा, इस समय मैं ध्यान में बैठता हूँ। सुबह चार बजे प्रात:कृत्य समापन करके फिर बारह बजे तक क्रिया में लगा रहता हूँ, बाद में भिक्षा आ जाती है, फिर खा-पीकर बातचीत करने का एक-डेढ़ घण्टा समय रहता है, उस समय इस विषय पर चर्चा करूँगा।" – ऐसा कहकर वे एक छोटी-सी चिलम लाये और उसमें गाँजा भरकर दम लगाया, फिर झोपड़ी में जाते वक्त कहा – "दम लगाकर मैं किसी से बोलता नहीं, कोई प्रसंग नही करता, ध्यान में बैठ जाता हूँ।" ...

संन्यासी थका हुआ था, ब्रह्मचारियों के साथ थोड़ी देर बातचीत के बाद बाहर सो गया। दूसरे दिन दोपहर के भोजन के बाद योगिराज मिले। सुबह भी स्नान के समय मिले थे पर कोई बातचीत नहीं हुई थी। स्नान करते ही गाँजे का दम लगा, झोपड़ी में घुस गये थे और बारह बजे निकले। ... समाधियोग के विषय में चर्चा हुई। संन्यासी ने कहा – "औषधि के प्रयोग द्वारा भी समाधि-स्थिति लाने की बात पायी जाती है, पर यह भी है कि कोई भी बाहरी अवलम्बन लेकर अभ्यास करना उचित नहीं है। गाँजा या भाँग नशे की चीज है, ऐसी वस्तु की मदद लेकर समाधि की साधना में काफी विघ्न की सम्भावना रहती है। यदि चित्त अन्य किसी विषय की ओर धावित हो, तो साधक रोक नही सकता; लगा तो एक तान हो जायेगा, नहीं तो जिधर जायेगा, जो विषय ले लेगा, उधर ही वृत्ति चली जायेगी, इसलिये ऐसा बाह्य अवलम्बन लेना ठीक नहीं है। और यह भी है कि अभ्यस्त होने से ठीक ठीक जमाने में परिमाण भी अधिक लगेगा, जब तक न जमे तब तक चित्त ध्यान में या किसी विचार में एकाग्र होकर ठहरेगा नहीं। एकाग्र न होने से ध्यान या समाधियोग का अभ्यास नहीं हो सकता। अत: इस प्रकार बाह्य वस्तु पर आधार रखना ध्यानादि के लिए निषिद्ध है।"

योगिराज कुछ विचारकर बोले, "इसीलिये मैं दम लगाकर अन्य किसी से चर्चा या प्रसंग में उतरता नहीं, एकदम जाकर

ध्यान में बैठ जाता हूँ। ...पर हाँ, जिस रोज नशा नहीं जमता, दुबारा दम लगाना पड़ता है और उससे जो विक्षेप हो जाता है, उस रोज चित्त शान्त नहीं होता। ... आप आज भी ठहरिये, कल जाइयेगा, मेरा ध्यान का समय हो गया है।''– कहकर वे गाँजे का दम लगाकर झोपड़ी में गये।

शाम को भी मिले पर बातचीत नहीं हुई। कुछ विचारयुक्त प्रतीत हुए। ... फिर वही दोपहर को वार्तालाप करेंगे – ऐसा सोचकर सुबह जरा इधर-उधर टहलने गया था, परन्तु एक ब्रह्मचारी शिष्य ने आकर कहा – ''गुरु महाराज आपसे बात करना चाहते है, बाहर आकर बैठ गये हैं, हम भिक्षा के लिये गाँव में जा रहे हैं, पधारिये।'' संन्यासी के वापस आते ही योगिराज ने कहा – ''कल से दिमाग में एक ही विचार घूम रहा है। आपने जो कहा, सच है, पर अब आदत पड़ गयी है, कैसे छोड़ूँ? एकदम तो छोड़ नहीं सकूँगा, मन बैठेगा ही नही, ध्यानादि अभ्यास में विघ्न हो जायेगा।'' ... ''धीरे धीरे कम कर लीजिये, परिमाण में कम ही तो है, तीन या चार चिलम आप पीते हैं, अब इससे भी कम करिये और गाँजा न पीकर ऐसे ही रोज ध्यान की कुछ चेष्टा करिये तो शायद यह अवलम्बन छूट जायेगा। ... जैसे सुबह या रात मे या दोपहर के बाद एक वक्त कम कर दीजिये, इस तरह से आदत छूट जायेगी और ध्यानादि के लिये बाह्य आलम्बन भी छूट जायेगा।''

संन्यासी से यह बात सुनकर बहुत खुश हुए और वैसे ही प्रयत्न करने का निश्चय किया। इतने में ब्रह्मचारीगण भिक्षा लेकर आ गये और सब भोजन करने के लिये बैठे। इस विषय पर और कोई बात नही हुई – संन्यासी ने भी भोजन करने के बाद चले जाने का निश्चय कर विदा ले ली।

नर्मदा के किनारे किनारे ही करीब दो-ढाई बजे दूसरे ग्राम के लिये चल पड़ा। घोर जंगल में से होकर जा रहा था, सुनसान, किसी जन्तु की आवाज भी नहीं। घण्टा भर चला होगा, एक जगह से जब जाने लगा तो देखा कि सात चीचड़ियाँ (गौरैया से थोड़ी बड़ी अत्यन्त छोटे उल्लुओ की एक जाति) एक पेड़ की डाली पर बैठकर संन्यासी की तरफ देखती है और सिर हिलाती है। उस डाली के नीचे से ही जाना था और वे जमीन से केवल ढाई-तीन हाथ ही ऊँची थी। चीचड़ियाँ वैसे सिर हिला-हिलाकर कभी संन्यासी की तरफ और कभी आपस में देख रही थीं। ... बड़ा अच्छा दृश्य था। उनकी वैसी चेष्टा अर्थसूचक है, ऐसा समझकर संन्यासी ठहर गया और सोचने लगा – क्या हो सकता है? सामान्यत: ये रात में या संध्या के समय निकलती है, दिन के समय पेड़ की कोटरों मे छिपी रहती है, पर जंगल में कभी कभी दिन मे भी निकलती होगी। दिन में यह जाति आँखो से कम देखती है, अत: आहार-अन्वेषण के लिए घूम नही सकती, रात मे ही घूमती हैं। ... कुछ देर तक देखता ही रहा, जब वे एक-एक-कर उड़कर जाने लगीं, तब संन्यासी उसी डाली के नीचे से चला। दस कदम जाने के बाद जंगल का एक मोड़ आया, वहाँ एकदम पानी के पास से होकर जाने का रास्ता था। संन्यासी ने देखा – शेर के पंजे की ताजी छाप और टट्टी पड़ी है! ''अरे! यह तो पानी पीने के लिये आया था, अगर चीचड़ियाँ उस प्रकार नहीं रोकतीं, तो वह शेर का शिकार बन जाता! सप्तदेव या सप्त-ऋषियों ने कृपया इस रूप में आकर ईश्वर-निर्देश से हमारी रक्षा की होगी! जय भगवान!''

बिलखा स्टेट (प्रभुना पीपला)

चातुर्मास्य का समय था। वर्षा ठीक ठीक हो रही थी। पानी से तालाब, गड्ढे आदि लबालब भर गये थे, वृक्षादि सब पानी पी-पीकर पुष्ट ताजे बने थे, खेतों में धान के हरे-भरे पौधे नजर आते थे, सर्वत्र चित्त-प्रसादक दृश्य था। संन्यासी परिव्राजक जूनागढ़ (सौराष्ट्र) के पास बिलखा स्टेट में चातुर्मास कर रहा था। ''प्रभुना पीपला'' – प्रभु का पीपल नामक सुबृहत् वृक्ष के नीचे दरबार श्री का एक छोटा-सा मकान था, उसी में ठहरा था और स्टेट की मदद से कुछ सेवा का काम चला रहा था, जिसमें मुख्य था सबको मुफ्त आयुर्वेदिक औषधियाँ देना। संन्यासी के निर्देशानुसार इसमें एक वैद्यराज काम करते थे।

यह 'प्रभुना पीपला' कस्बे से बाहर खूब एकान्त में दरबार श्री के बाग के एक तरफ था। वहाँ अन्य कोठरियाँ थीं, पर उनमें कोई नौकर-चाकर नही रहता था, सभो खाली पड़ी रहती थीं। रात्रि में तो एकान्त का मजा आता था, केवल झिल्लियों की सुरीली झंकार के सिवाय और कोई शब्द सुनने में नहीं आता। वन्य पशु चुपचाप ही चलते। एक वृद्ध पटेल नौकर था। रात में आराम से सो जाता था। अच्छा आदमी था; सामर्थ्यानुसार कार्य, सेवा आदि करता था।

एक रोज रात को 'मेरु-भा-चारण' की कथा सुनकर दरबार-गढ़ से आते संन्यासी को काफी देर हो गयी थी। उस रोज वह वृद्ध पटेल छुट्टी लेकर घर गया था, इसलिये वहाँ कोई और नही था। संन्यासी जाकर कमरे मे हमेशा की तरह कैम्प-खाट पर सो गया। खिड़कियाँ खुली थी, मन्द मन्द सुशीतल हवा बह रही थी, पर निद्रा देवी मानो रूठ गयी थी, चेष्टा करने पर भी नीद नही आ रही थी। आँखे बन्द होते ही मन के अन्दर से आवाज उठती – 'अरे, इधर है'। जिधर निर्देश होता, उधर एक कोने मे साढ़े चार फुट की आलमारी खड़ी थी। उसी कमरे मे साढ़े पाँच-पाँच फुट की और भी दो आलमारियाँ थी, जिनमे औषधियाँ भरी थी। इस आलमारी में भी कुछ दवाइयाँ रखी थीं। वह सिर के पास एक कोने मे खड़ी थी। दो-तीन बार वैसे ही 'इधर है' सुनकर संन्यासी ने उठकर लालटेन लिया और इधर-उधर देखा, पर कुछ नही मिला, फिर सो गया, पर – 'इधर है' – यह स्पष्टतर होने से

सो नहीं सका। सोचा कि दिमाग में क्या घुस गया? फिर उठकर बत्ती लेकर देखा और आलमारी के ऊपर-नीचे, बाजू में लाठी टकरायी – कही कुछ नही। पर खाट पर सोते ही फिर वही आवाज – 'इधर है'। अरे, इसने तो दिमाग में भ्रान्ति पैदा कर दी, अब नींद नहीं आयेगी, क्या किया जाय?

अब संन्यासी आखिरी बार देखने का निश्चय करके उठा। आजू-बाजू खट-खटाकर, एक तिपाई यानी स्टूल पर चढ़कर आलमारी के ठीक ऊपर लकड़ी से मारा। 'फों...' की जोर की आवाज सुनते ही समझ गया कि सर्प है, पर देखने में नहीं आता था, इसलिये फिर मारा तो अबकी बार 'फो, फों' की आवाज करते हुए एक तरफ से सर्प छिटककर गिरा और खुले द्वार से निकलकर बाहर बरामदे में चला गया। वह बड़ा भारी काला नाग था। यदि वह संन्यासी पर आक्रमण करता तो तिपाई पर से वह अपने को बॅचा नहीं पाता! परन्तु बरामदा तो बाड़ से घिरा हुआ था, बॉस की ताजी बाड़ थी और एक कोने में शीशी-बोतलो से भरी हुई दो बड़ी बड़ी पेटियाँ पड़ी थी, जिसके पीछे वह नाग जा छिपा। क्या किया जाय! अब तो दुश्मन हो चुका था, उसके सिर पर लकड़ी की चोट लग चुकी थी! बाड़ का द्वार खोल दिया और उन पेटियों को डण्डे से हिला-हिलाकर नाग को उधर से हटाने की कोशिश में सफल हुआ। नाग उधर से निकलकर सामने बाड़ के पास रखी हुई एक बेंच पर से बाड़ के छेद में से बाहर जाने लगा। दरवाजे की तरफ से जा सकता था, पर न जाकर वैसे ही बाहर जाना चाहा। बाड़ के छेद ठीक बड़े थे, हिंस्र पशु अन्दर न आये इसलिये रुकावट के रूप में उन्हें लगाया गया था। नाग का आधा शरीर बाहर जाने के बाद संन्यासी ने जल्दी भगाने के इरादे से जरा चोट दी, तो उसकी हड्डी टूट गयी और शरीर लटकने लगा। गुस्से के मारे नाग भयंकर फुँफकार मारते हुए बाड़ पर ही झपट्टे मारने लगा। १५-२० मिनट तक झपट्टे मारता रहा। इसके फलस्वरूप उसका मुँह बॉस की धारदार अणियों से कट-कटकर टुकड़े टुकड़े हो गया और वह मर गया। दूर दूर तक चारों ओर खून के छींटे उड़े थे। अन्तत: दो घण्टे बाद अग्नि-संस्कार के द्वारा उसकी अन्तिम क्रिया करके संन्यासी ने क्षमा माँगी। नाग सात हाथ लम्बा था। फिर वह जाकर सो गया। सुबह उठा तब तक पटेल आ गया था। 'इधर है' – यह बतानेवाला कौन था? जय भगवान!

'प्रभुना पीपल' यानि प्रभु का पीपल – एक पवित्र स्थल है। कहते हैं कि एक सेठ वणिक सगालशाह भगवान के परम भक्त थे। वे हर रोज एक आगन्तुक अतिथि को खिलाकर ही स्वयं आहार करते थे। कोई सन्त न मिलने पर उपवासी रहते थे। एक बार उन्हें तीन दिनों तक कोई सन्त न मिला, उपवास रहकर गाँव तथा गाँव के आसपास ढूँढ़ते रहे, तीसरे दिन उस पीपल के नीचे एक कुष्ठ व्याधि से ग्रस्त (कोढ़िया) साधु मिला। सगालशाह ने सहर्ष उन्हे भोजन के लिये आमंत्रण दिया, परन्तु उन्होने कहा, "मै जो भी खाने को माँगूं, यदि वही दे, तो तुम्हारे घर आऊँगा।" सेठ ने वचन दे दिया और उन्हें घर पर ले आया। सेठ का एक ही ७-८ वर्ष की आयु का सुन्दर, रूपवान, पुत्र था। उसे देखकर उस साधु ने कहा – "इसका मांस राँधकर मुझे खिलाओ।" सर्वत्र हाहाकार मच गया, परन्तु सगालशाह ने कहा – "प्रभो, वैसा ही होगा।" तब साधु ने कहा, "तू इसे अपने हाथो से मारकर औरत को पकाने के लिए दे!

कहते हैं कि सगालशाह ने वैसा ही किया, पर जब रसोई तैयार हो गयी तो वह कोढ़िया साधु गायब था। बहुत ढूढ़ने पर भी नही मिला। लोक-मान्यता है कि स्वयं भगवान उनकी परीक्षा लेने के लिये उस वेश मे आये थे। अन्त में सपत्नीक सगालशाह की मुक्ति हो गयी, आकाश में एक दिव्य प्रकाश हुआ और वे पवित्र दम्पति शरीर त्यागकर चल दिये। अभी तक लोग बिलखा में सगालशाह के मकान के एक खण्डहर को दिखाया करते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द को श्रद्धासुमन...

रहमतुल्लाह अंसारी 'रहमत' पत्रकार, जामताड़ा (झारखण्ड)

– १ –

राम-कृष्ण गौतम की धरती
सदियों की गौरव गाथा ।
यवनों ने सदियों तक लूटा
फिर भी रहा अझुक माथा ।।

बार बार आतंकी आये
लूटा, अत्यचार किया ।
धर्मान्तर को विवश किया
मानव में फूट दरार किया ।।

कितने ही बलि चढ़े और
कितनों ने अत्याचार सहा ।
इसके चलते भारत-मॉ का
ऑसू बारम्बार बहा ।।

– २ –

गुरु तलाशने पहुँचे इक दिन
रामकृष्ण के आंगन में ।
पता चला मिल जायेंगे वे
काली मन्दिर प्रांगण में ।।

पहुँचा मन्दिर प्रणाम किया
गुरु से बातें चार किया ।
कहा शिष्य बना लो अपना
बातें बारम्बार किया ।।

ईश्वर का दर्शन पाने को
साधना, भक्ति में लीन हुआ
कुछ पा लेने की इच्छा थी
जग का सामाँ हीन हुआ ।।

संन्यासी बन निकले घर से
चले हिमालय गिरि की ओर ।
वर्षों तक की तीर्थयात्रा
और किया साधन भी घोर ।।

भ्रमण किया वर्षों भारत का
भूखों-नंगों का ध्यान किया ।
सम्यक् ज्ञान हो मानव में
स्वामीजी ने ठान लिया ।।

निकल पड़े मुनि के वस्त्र में
करने मानव का कल्याण ।
तनिक न गम सताया उनको
कहाँ साँझ हो कहाँ विहान ।।

अन्धकार देखा उत्तर में
गमन किया दक्षिण की ओर ।
कन्याकुमारी की शिला पर
बैठ झाँका अतीत की ओर ।।

सब धर्मो की सच्चाई
स्वामीजी ने स्वीकार किया ।
जाति, लिंग के भेदभाव से
साफ साफ इन्कार किया ।।

राष्ट्रप्रेम का पाठ पढ़ाकर
भाग्य जगाया स्वामी ने
मेघ हटाकर अज्ञान का
चाँद उगाया स्वामी ने ।।

– ३ –

अमरीका के सम्मेलन में
स्वामीजी ने बोला था ।
जय-जयकार हुई, नारों से
विश्व-चराचर डोला था ।।

प्रथम बार पाया भारत ने
ऐसी ख्याति विश्व-प्रसिद्ध ।
लगा टोहने स्वामीजी को
भक्तगण ओ विश्वप्रसिद्ध ।।

फिर भारत भूमि में आकर
लगे विचरने विश्वगुरू ।
धर्म-ध्वजा लेकर भारत में
जनहित-सेवा किये शुरू ।।

परमहंस के उपदेशों को ले
चले कँटीली राहों में ।
रामकृष्ण के गूढ़ मिशन का
भार उठाया बाँहों में ।।

ऊँच-नीच की बातें मत कर
धर्म, अधर्म हो जायेगा ।
भेदभाव की दीवारों से
दुर्ग नहीं बन पायेगा ।।

निर्धन के हृदय को देखो
ईश्वर भूखा रहता है ।
कर दुखियों की घोर उपासना
ईश्वर देखा करता है ।।

– ४ –

पीड़ितों का उत्थान करो
तू ध्यान धरो व दान करो ।
मानवता का पाठ पढा
समाज-सुधार का काम करो ।।

दु:ख-महामारी में लोगों
प्रभुजी का ही ध्यान धरो ।
आकर मित्र अनाथालय में
दीन-हीन का कष्ट हरो ।।

अन्धविश्वास को दूर करो
मानव हित के नित काम करो ।
राष्ट्रप्रेम के भाव बिखेरो
जगती में अपना नाम गढ़ो ।।

लाज बचा ली भारत-माँ की
भेंट चढ़ाकर प्राणों की ।
भारत-भू को अमर बनाया
बन्धुत्व का पाठ पढ़ाकर ही ।।

वेद, पुराण, कुरान की धज्जी
उड़ती थी चहुँ ओर अहो ।
किसकी हिम्मत थी बचा
लेना, सिर्फ स्वामीजी ही कहो ।।

भुला दिया वेदान्त सभी ने
दर्शन से मुख मोड़ा था ।
स्वामीजी ने ध्यान धरा
व एक लड़ी में जोड़ा था ।।

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षो में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

४०. प्रश्न – *क्या स्वप्न अर्थहीन होते हैं या उनका भी कोई विशेष तात्पर्य होता है? कभी कभी भविष्य में होनेवाली घटना स्वप्न में आकर दिख जाती है, यह कैसे होता है?*

उत्तर – अवश्य ही स्वप्न एक विज्ञान है, पर अभी तक स्वप्न में दिखनेवाली घटनाओं का निश्चित अर्थ नहीं लगाया जा सका है। फ्रायड आदि कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्नों के पढ़ने के प्रयास किये हैं और स्वप्न-विज्ञान पर कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं। परन्तु उन्होंने स्वप्न में दिखनेवाली घटनाओं को जिन जिन बातों का प्रतीक माना है, वे सर्वदा सच नहीं उतरती। ऊल-जुलूल दिखनेवाले सपनों में भी, सम्भव है, कुछ विशेष अर्थ निहित हों, पर उनकी जानकारी नहीं हो पायी है। कुछ लोग स्वप्नों को अर्थहीन मानते हैं। पर निश्चयपूर्वक ऐसा कह देना विज्ञान-सम्मत नहीं है। साधारण तौर पर यह कहना ज्यादा गलत नहीं होगा कि अवचेतन मन के संस्कार ही हमें सपनों में दिखाई देते हैं। हमारे मन में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें हम चेतन स्तर पर लाने से रोकते हैं क्योंकि वे अवांछनीय हैं। अत: जब चेतन मन सो जाता है यानी जब उसका अंकुश नहीं रहता, तब स्वप्नावस्था में वे दबी हुई अवचेतन मन की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। अत: स्वप्न में दिखनेवाली घटना का सम्बन्ध हमारे अवचेतन मन में छिपी अवांछनीय प्रवृत्तियों के साथ लगाया जाता है।

इसी प्रकार, जिसके मन में अच्छे-ही-अच्छे संस्कार हैं, जिसमें शुभ विचार उठते हैं, वह सपने में भी शुभ प्रतीक देखता है। साधु-महात्माओं का दर्शन, सुन्दर दृश्य, पावन तीर्थ-मन्दिरों का दर्शन – ये सब शुभ संस्कारों के प्रतीक हैं।

यह भी सत्य है कि कभी कभी भविष्य में होनेवाली घटनाओं का आभास स्वप्न में पहले से हो जाता है। पर इस आभास की वैज्ञानिक प्रक्रिया कैसी है, इसे कहना कठिन है।

४१. प्रश्न – *देश में वर्तमान परिस्थिति भयावह है। इससे उबरने का कोई रास्ता सुझा सकते हैं?*

उत्तर – यदि शासकों में राष्ट्रहित के सामने अन्य किसी भी बात का मूल्य न समझकर कठोरता से शासन करने का भाव हो, तो इस परिस्थिति में बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। मानव में अब भी पाशविकता कूट-कूटकर भरी है। पशु केवल भय द्वारा ही शासित होता है। आज जीवन के सभी क्षेत्रों में से यह भय उठ गया है, इसीलिए लोग स्वार्थसिद्धि के लिए अन्याय और मनमानी करते हैं, स्व-हित के समक्ष देश-हित को ताक पर रख देते हैं। अत: उबरने का रास्ता है हर नागरिक का उत्कट राष्ट्रप्रेम, अपनी मातृभूमि पर अभिमान।

४२. प्रश्न – *भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा है कि कोई अगर भगवान के लिए तीन दिन और तीन रात रो ले, तो उनके दर्शन हो सकते हैं। उनकी इस उक्ति का आशय क्या है? इस प्रकार की आकुलता कैसे लाई जा सकती है?*

उत्तर – श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य ईश्वर को पाने की आकुलता से है। उन्होंने बारम्बार 'भगवान के लिए व्याकुलता' को ही भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। जैसे हम संसार में विषय भोगों की प्राप्ति के लिए तथा उनके बिछुड़ जाने से आकुल होते हैं, उसी प्रकार हम यह सोचकर आकुल हो सकें कि 'हे ईश्वर, तुम्हारे दर्शन नहीं हुए, तुम्हारी प्राप्ति नहीं हुई', तो ईश्वर की कृपा होती है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर के लिए हृदय में चाह उपजे। संसार की अन्य वस्तुओं के लिए जैसे चाह होती है उसी प्रकार की चाह यदि प्रभु के लिए हो, तो वे दर्शन देते हैं। ऐसी दैवी विकलता हममें आ गयी, तो हम ईश्वर के दर्शन के लिए बिसुरते हैं। यदि हमारा प्रिय परिजन काल-कलवित हो जाए, तो महीनों हमारी आँखों के आँसू नहीं सूखते। वैसे ही ईश्वर के बिछोह में हम तड़प सकें और सचमुच तीन दिन और तीन रात उस बिछोह के आँसू न सूखें, तो श्रीरामकृष्ण का दावा है कि हमें प्रभु के दर्शन होंगे।

इस विकलता को बढ़ाने का साधन है – विवेक-बुद्धि, जो हमें यह बतलाये कि प्रभु ही हमारे एकमात्र चिरन्तन प्रेमास्पद हैं। संसार के प्रेमी तो सभी के सभी नश्वर हैं। कोई भी हमारा प्रियजन हमारे साथ सदैव के लिए नहीं रहेगा। पर ईश्वर ही ऐसे हैं जो जन्म से पूर्व हमारे साथ थे, वर्तमान में भी उन्हीं की सत्ता में हम जीवित हैं और मृत्यु के उपरान्त भी वे हमारे अपने बने रहेंगे – जब, इस प्रकार का तीव्र अपनापा उनके प्रति आता है, तब उनके प्रति प्रेम बढ़ता है और तब उनका बिछोह हमें पीड़ित करता है। इसी भाव को तीव्र करने से आकुलता बढ़ती है।

४३. प्रश्न – *क्या संसार में रहकर साधना हो सकती है?*

उत्तर – क्यों नहीं ! यदि हमारा दृष्टिकोण उचित हो, तो संसार के कार्य ही हमारे लिए साधना बन जाते हैं। यदि हमने संसार के कार्यो को सामान्य दृष्टि से न देखकर यह सोचा कि यही मेरे लिए उस प्रभु को पाने की साधना है, तो आश्चर्य-जनक रूप से उन्हीं कार्यो में उच्च भाव आ जाता है। उचित दृष्टिकोण हो पाया या नहीं, इसके दो लक्षण हैं – (१) जो भी कार्य हम करेंगे, उसे बड़ी लगन से करेंगे। उसमें किसी प्रकार का टालमटोल का भाव न होगा। हमारी कार्यक्षमता बढ़ जाएगी। (२) साथ ही हमारे मन में उन कार्यों के प्रति एक प्रकार की निर्लिप्तता जन्म ले लेगी। पहले हम कर्मो के द्वारा उद्वेलित हो जाते थे, पर साधना का भाव बनाकर कार्य करने से मन का उद्वेलन कम होगा। क्रमश: इससे 'कर्मयोग' में हमारी प्रतिष्ठा हो जाएगी।

४४. प्रश्न – *साधना करते-करते कभी-कभी मन में बड़ी शुष्कता आ जाती है। क्या यह अध:पतन का लक्षण है?*

उत्तर – नहीं। आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कभी सरल रेखा में नही होती। यह तरंगवत् होती है। कभी कभी हमारा मन बड़ा प्रफुल्ल होता है और उस समय हमें ऐसा लगता है कि लक्ष्य अब अधिक दूर नहीं है। फिर अचानक अकारण ही मन अवसाद से भर जाता है और हमें बड़ी शुष्कता मालूम पड़ती है। उस समय साधन-भजन बिल्कुल नीरस मालूम पड़ता है और हम कोशिश करके भी मन को थोड़ी देर के लिए भी शान्त नहीं कर पाते। यह मन का स्वभाव है। यह अध:पतन नहीं है। जैसे हम किसी पहाड़ की चोटी पर चढ़ते हैं तो कई बार हमें ढलान में से जाना पड़ता है। इसका मतलब यह नहीं कि हम नीचे उतर रहे हैं, भले ही ऊपरी दृष्टि से ऐसा लगे। वास्तव में हम ऊपर बढ़ने के लिए ही नीचे उतरते है। रास्ता उसी ढलान में से होकर जाता है। ठीक यही बात साधना के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में नीचे उतरने की कोई बात ही नहीं है, बशर्ते कि हम नियमपूर्वक साधना में लगे हों। जब मन के अवसाद का समय आवे, तो हम हताश न हों, बल्कि यह धारणा भीतर पक्की करें कि थोड़े समय बाद यह अवसाद निकल जायेगा। हाँ, हम अवसाद से समझौता न करें। सदैव अपने आपसे कहते रहें – 'मेरा आदर्श ऊँचा है। वहाँ मुझे पहुँचना ही है। इस ढलान में ही मुझे बैठ नहीं जाना है।' इस प्रकार की सतर्कता और निष्ठा हमें सतत ऊपर उठाती रहेगी। एक दिन ऐसी स्थिति हो जायेगी कि शुष्कता सदैव के लिए सूख जायेगी और हमारा अन्तर अवशेष रस से सराबोर हो जायेगा।

४५. प्रश्न – कुछ लोग कहते हैं कि ध्यान के अभ्यास के लिए जीवन को बदलने की आवश्यकता नहीं। तो क्या आध्यात्मिक प्रगति के लिए शुद्ध नैतिक जीवन आवश्यक नहीं है?

उत्तर – आवश्यक है। जीवन की शुद्धता के बिना अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिल पाता। जब हमारी सारी शक्तियाँ एकत्र होकर ईश्वर की ओर जाती हैं तभी उनकी अनुभूति होती है। ईश्वर की अनुभूति या ध्यान की तन्मयता में हमारे मन की अशुद्धि ही बाधक है। मन शुद्ध हुआ कि लक्ष्य प्राप्त हो गया। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते थे कि शुद्ध मन और शुद्ध आत्मा एक है। यदि जीवन की क्रियाएँ शुद्ध न हों तो मन भी शुद्ध नहीं रह पाता। मन की अशुद्धता के कारण ध्यान के अभ्यास में गति नहीं आ पाती। अत: आवश्यक है कि हम ध्यान का अभ्यास करें तथा साथ ही जीवन को भी शुद्ध बनाने का प्रयास करें।

४६. प्रश्न – *आजकल चिकित्सा के क्षेत्र में कुछ चिकित्सक सम्मोहन (हिप्नॉटिज्म) का सहारा लेने की सलाह देते है। इस पर आपकी क्या राय है?*

उत्तर – सम्मोहन मेरा विशेष क्षेत्र नहीं है, अत: साधिकार उस पर कुछ कहना कठिन है। तथापि सिद्धान्त: इतना तो कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति बार बार अपने ऊपर सम्मोहन कराता है, उसका मन दुर्बल हो जाता है और इच्छा-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। यदि चिकित्सक ऐसा कहें कि किसी जीवन की रक्षा या मर्मान्तक पीड़ा को कम करने के लिए सम्मोहन के अतिरिक्त और कोई चारा नही है, तब तो बात ठीक है और ऐसी परिस्थितियों में सम्मोहन का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु छोटी छोटी बातों के लिए यथा वजन कम करने या धूम्रपान की आदत रोकने के लिए सम्मोहन का सहारा लेना ठीक नहीं दिखता।

आजकल चिकित्सक भी सम्मोहन से पैदा होनेवाले खतरों के प्रति सजग हो रहे है। कुछ समय पूर्व एक चिकित्सक ने लेख प्रकाशित किया था कि किस प्रकार एक रोगी, जिस पर सम्मोहन का प्रयोग करके उसके रोग को दूर किया गया, एक उससे भी अधिक रोग से आक्रान्त हो गया। उस रोगी को नाखून कुतरते रहने की खराब आदत थी। वह उस आदत को छुड़वाने हिप्नॉटिस्ट के पास गया। वह रोग तो दूर हुआ पर उससे बदतर रोग उसे लग गया। जब सम्मोहन से यह दूसरा रोग दूर किया गया, तो एक और खराब तीसरा रोग उसे लग गया। इस प्रकार करते करते वह शराब और नशीली दवाइयाँ खाने का आदी हो गया। तब चिकित्सक ने उस पर सम्मोहन का प्रयोग करना रोक दिया, क्योकि उसे डर लगने लगा कि इसके बाद कहीं रोगी आत्महत्या करने पर न उतारू हो जाय।

❖ (क्रमश:) ❖

'तत्त्वमसि' का तात्पर्य

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसि-वाक्यं सम्बन्ध-त्रयेण अखण्ड-अर्थबोधकं भवति ।।१४८।।

– अब महावाक्यों के अर्थ का वर्णन करते हैं। यह 'तत्त्वमसि' तीन (तरह के) सम्बन्धों द्वारा अखण्ड ब्रह्म का अर्थबोधक है।

सम्बन्ध-त्रयं नाम पदयोः सामान-अधिकरण्यं पदार्थयोः विशेषण-विशेष्य-भावः प्रत्यगात्म-लक्षणयोः लक्ष्य-लक्षण-भावः च इति ।।१४९।।

– तीन सम्बन्ध इस प्रकार हैं – (पहला) समान-अधिकरण-भाव अर्थात् (समान आश्रय में रहनेवाले) दो पदों के बीच का सम्बन्ध, (दूसरा) पदो के अर्थ का विशेषण-विशेष्य भाव (विशेष्य पद तथा उसकी विशेषता बतानेवाले दो पदों के अर्थों के बीच का सम्बन्ध), और (तीसरा) प्रत्यगात्मा और उसका लक्षण बतानेवाला – (इन दोनों के बीच का सम्बन्ध) लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध है।

तदुक्तम् – 'सामानाधिकरण्यं च विशेषण-विशेष्यता। लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धः पदार्थ-प्रत्यगात्मनाम्'। इति ॥१५०॥

– कहा है – "पदों के अर्थ और अन्तरात्मा के बीच (१) भिन्न निमित्त को लेकर प्रवृत्त हुए शब्दो का एक ही अर्थ में तात्पर्य होने को 'सामान्य-अधिकरण्य-भाव' सम्बन्ध कहते हैं, (२) विशेष्य और उसकी विशेषता बतानेवाले – दो शब्दो के अर्थों के बीच के सम्बन्ध को 'विशेषण-विशेष्य-भाव' और (३) दो शब्दों तथा उनके लक्ष्य (यहाँ अन्तरात्मा) के बीच का सम्बन्ध 'लक्ष्य-लक्षण-भाव' कहलाता है। (नैष्कर्म्यसिद्धि ३/३)

सामान-अधिकरण्य-सम्बन्धः तावत् यथा 'सः अयं देवदत्त' इति अस्मिन् वाक्ये तत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक-स-शब्दस्य एतत्-काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक-अयं-शब्दस्य च एकस्मिन् पिण्डे तात्पर्य-सम्बन्धः। तथा च 'तत् त्वम् असि' इति वाक्ये अपि परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-वाचक-तत्-पदस्य अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-वाचकत्वम् पदस्य च एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्य-सम्बन्धः ।।१५१।।

– समान (एक ही) अधिकरण (आश्रय) में रहनेवाले दो शब्दो के बीच का सम्बन्ध – यथा 'यह वही देवदत्त है' – इस वाक्य का 'वही' शब्द तत्काल (अतीत) विशिष्ट देवदत्त और 'यह' शब्द एतत् (वर्तमान) काल विशिष्ट देवदत्त – इस प्रकार दोनों शब्दों का एक ही व्यक्ति में बोधन कराना 'सामान्याधिकरण्य' सम्बन्ध कहलाता हैं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द द्वारा परोक्षत्व आदि गुणयुक्त चैतन्य (का बोध कराकर) और 'त्वम्' शब्द के द्वारा अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट गुणयुक्त चैतन्य (का बोध कराकर) एक ही चैतन्य (ब्रह्म) है – ऐसे तात्पर्य का बोधन कराना, इस (सामान्याधिकरण्य) सम्बन्ध का यही तात्पर्य है।

विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्धः तु यथा तत्रैव वाक्ये स-शब्दार्थ-तत्-काल-विशिष्ट-देवदत्तस्य अयं-शब्दार्थ-एतत्-काल-विशिष्ट-देवदत्तस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भावः। तथा अत्र अपि वाक्ये 'तत्' पदार्थ-परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य 'त्वम्'-पदार्थ-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भावः।।१५२।।

– विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध के उदाहरणार्थ – उसी 'यह वही देवदत्त है' – वाक्य में 'वही' शब्द तत् काल (अतीत) विशिष्ट देवदत्त का और 'यह' शब्द एतत् काल (वर्तमान) विशिष्ट का बोधक है। यहाँ एक दूसरे से भेद के व्यावर्तन (निवारण) रूप से विशेषण-विशेष्य-भाव है। वैसे ही उसी 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द परोक्षत्व आदि विशिष्ट (गुणोंवाले) चैतन्य तथा 'त्वम्' शब्द अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट (गुणोंवाले) चैतन्य का बोधक है और यहाँ परस्पर भेद का निवारण रूप से विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है।

लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्धः तु यथा तत्र एव स-शब्द-अयं-शब्दयोः तदर्थयोः वा विरुद्ध-तत्काल-एतत्काल-विशिष्टत्व-परित्यागेन अविरुद्ध-देवदत्तेन सह लक्ष्य-लक्षण-भावः। तथा अत्र-अपि वाक्ये तत्त्वम्पदयोः तदर्थयोः वा विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्टत्व-परित्यागेन अविरुद्ध-चैतन्येन सह लक्ष्य-लक्षण-भावः ।।१५३।।

– लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध के उदाहरणार्थ – उसी वाक्य में 'वही' तथा 'यह' शब्दों या उनके अर्थों में से, 'तत्' काल (अतीत) तथा 'एतत्' काल (वर्तमान) के परस्पर-विरोधी विशिष्ट सम्बन्ध (तात्पर्य) को निकाल देने से दोनों का एक ही देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षण-भाव (सम्बन्ध) होता है, वैसे ही यहां इस ('तत्त्वमसि') वाक्य में भी 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों या उनके अर्थो के परस्पर-विरोधी परोक्षत्व-अपरोक्षत्व (विशेष) गुणोंवाले अंशों के निकाल देने पर अविरुद्ध एक ही चैतन्य के साथ उनका लक्ष्य-लक्षण-भाव (सम्बन्ध) हो जाता है।

इयमेव भागलक्षणा इति उच्यते ।।१५४।।

– इसी को भाग-लक्षणा[१] भी कहते हैं।

अस्मिन् वाक्ये 'नीलम्-उत्पलम्' इति वाक्यवत् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते ।।१५५।।

– 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य के समान इस ('तत्त्वमसि') वाक्य में उसका अर्थ सुसंगत नहीं होता।

तत्र तु नील-पदार्थ-नील-गुणस्य उत्पल-पदार्थ-उत्पल-द्रव्यस्य च शौक्ल्य-पटादि-भेद-व्यावर्तकतया अन्योन्य-विशेषण-विशेष्य-रूप-संसर्गस्य अन्यतर-विशिष्टस्य अन्य-तरस्य तद् ऐक्यस्य वा वाक्यार्थत्व-अङ्गीकारे प्रमाणान्तर-विरोध-अभावात् तद्-वाक्यार्थः सङ्गच्छते ।।१५६।।

– 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में 'नील' शब्द का अर्थ है – नीले रंग के गुणवाला और 'उत्पलम्' का अर्थ है कमल पुष्प नामक पदार्थ। ये (क्रमशः) श्वेत आदि रंग तथा वस्त्र आदि पदार्थों के भेद का निराकरण करते हुए, उनकी आपसी विशिष्टता या एकता दर्शाते हैं। ऐसी स्थिति में किसी अन्य प्रमाण के साथ विरोध के अभाव में यह वाक्यार्थ सुसंगत तथा स्वीकार्य है।

अत्र तु तत्-पदार्थ-परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य त्वं-पदार्थ-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य च अन्योन्य-भेद-व्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भाव-संसर्गस्य-अन्यतर-विशिष्टस्य अन्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्व-अङ्गीकारे प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधात् वाक्यार्थो न सङ्गच्छते ।।१५७।।

– परन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'तत्' शब्द का अर्थ परोक्षत्व आदि गुणोंवाला चैतन्य और 'त्वम्' शब्द का अर्थ अपरोक्षत्व आदि गुणोंवाला चैतन्य है। इसमें एक का दूसरे से (आपसी) भेद का निराकरण होने के कारण, इन दोनों के बीच 'विशेषण-विशेष्य-भाव' (सम्बन्ध) है और यह भाव उनकी आपसी विशिष्टता या अभिन्नता दर्शाता है – ऐसा स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ विरोध होने के कारण यह संगत नहीं है।

तदुक्तम् - 'संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाऽत्र सम्मतः। अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ।।' इति ।।१५८।।

– कहा भी गया है – "(मीमांसकों आदि के मतानुसार) दो प्रकार के वाक्यार्थ होते हैं – संसर्ग (दो पदों के अर्थ का एकीकरण) तथा विशिष्ट (उनकी परस्पर विशेषता दिखाना)। (परन्तु) ये दोनों प्रकार के अर्थ यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) सम्मत नहीं हैं, क्योंकि विद्वानों को 'अखण्ड एकरस' वाक्यार्थ ही इष्ट है।" पंचदशी (७/७५)

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसति इतिवाक्यवत् जहल्लक्षणा अपि न संगच्छते ।।१५९।।

– 'गंगा का गाँव' – इस वाक्य के समान यहाँ ('तत्त्वमसि' वाक्य में) जहल्लक्षणा[२] भी संगत नहीं है।

तत्र तु गङ्गाघोषयोः आधार-आधेय-भाव-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य-अशेषतो विरुद्धत्वात् वाक्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धि-तीर-लक्षणाया युक्तत्वात् जहल्लक्षणा सङ्गच्छते ।।१६०।।

– यहाँ 'गंगा के गाँव' में 'गंगा' तथा 'गाँव' शब्दों का शब्दशः आधार-आधेय के रूप में अर्थ लें तो वह अत्यन्त विरूद्ध हो जाता है, अतः उसे पूरी तौर से त्यागकर उससे सम्बन्धित तट की लक्षणा (संकेत) उपयुक्त होने के कारण यहाँ जहत् लक्षणा ही संगत होती है।

अत्र तु परोक्ष-अपरोक्ष-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधात् भागान्तरम् अपि परित्यज्य अन्य-लक्षणाया अयुक्तत्वात् जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते ।।१६१।।

– यहाँ ('तत्त्वमसि' में) परोक्ष तथा अपरोक्ष चैतन्य का एकत्व रूप वाक्यार्थ के केवल (परोक्ष-अपरोक्ष) अंशमात्र में विरोध होने के कारण, दूसरे भाग को भी छोड़कर अन्य में लक्षणा करना उचित नहीं होगा, अतः यहाँ जहत् लक्षणा संगत नही।

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु अतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते इति वाच्यम् ।।१६२।।

– और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे वहाँ 'गंगा' शब्द अपने मूल (मुख्य) अर्थ को छोड़कर 'तट' की ओर इंगित करता है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' शब्द अपने अर्थ को छोड़कर क्रमशः 'त्वम्' और 'तत्' का बोध कराएँ, अतः यहाँ जहत् लक्षण क्यों संगत नहीं होगा?

तत्र तीर-पद-अश्रवणेन तदर्थ-अप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीति-अपेक्षायाम् अपि तत्त्वम्पदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः अन्यतर-पदेन अन्यतर-पदार्थ-प्रतीति-अपेक्षाभावात् ।।१६३।।

– (ऐसा इसलिए कि) उस 'गंगा के गाँव' वाक्य में तट शब्द का उल्लेख नहीं है और (अतः) उसका अर्थ स्पष्ट न होने के कारण लक्षणा के द्वारा उसका अर्थ निकालना अपेक्षित है। पर यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'तत्' और 'त्वम्' दोनों ही शब्दो का उल्लेख है और उनके अर्थ भी स्पष्ट हैं, अतः यहाँ लक्षणा के द्वारा एक शब्द के द्वारा दूसरे का बोध कराना उचित नही है।

---

१. लक्षणा – शब्द-शक्ति का एक भेद या शब्द का गौण प्रयोग, जिससे शब्द का अर्थ अंशतः रह जाता है और अंशतः खो जाता है।

२. जहत् का अर्थ है – छोड़ता हुआ। जहल्लक्षणा = जिसमें एक शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़ता हुआ उससे सम्बन्ध मात्र प्रदर्शित करता है,

अत्र 'शोणो धावति' इति-वाक्यवत् अजहल्लक्षणा अपि न सम्भवति ।।१६४।।

– यहाँ ('तत्त्वमसि' में) 'लाल दौड़ता है' – वाक्य के समान (जिसमें लाल रंग के साथ एक लाल घोड़े को जोड़कर अर्थ निकाल लेते है) 'अजहत् लक्षणा' भी सम्भव नहीं है।

तत्र शोण-गुण-गमन-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद्-अपरित्यागेन तद्-आश्रय-अश्वादि-लक्षणया तद्विरोध-परिहार-सम्भवात् अजहत्-लक्षणा सम्भवति ।।१६५।।

– वहाँ 'लाल' रंग के साथ 'गति' (दौड़ना) रूप अर्थ परस्पर विरोधी होने के कारण, उस (लाल रंग) को न त्यागकर उसके आश्रयभूत घोड़ा आदि में लक्षणा लेने से उस विरोध का परिहार होना सम्भव है, इस् कारण यहाँ अजहत् लक्षणा सम्भव है।

अत्र तु परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्व-स्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद्-अपरित्यागेन तत्-सम्बन्धिनो यस्य कस्यचित् अर्थस्य लक्षितत्वे अपि तद्-विरोध-परिहार-असम्भवात् अजहल्लक्षणा न सम्भवति एव ।।१६६।।

– परन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' में) परोक्षता तथा अपरोक्षता आदि गुणोंवाले चैतन्य के एकत्वरूप वाक्यार्थ में विरोध होने के कारण, उसके अर्थ को न त्यागकर अन्य जो कोई अर्थ लक्षणा से गृहीत होने पर भी उपर्युक्त विरोध दूर करना सम्भव नहीं है, अत: यहाँ अजहत् लक्षणा भी सम्भव नहीं है।

न च तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थविरुद्ध-अंश-परित्यागेन अंश-अन्तर-सहितं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु अतः कथं प्रकार-अन्तरेण भाग-लक्षण-अङ्गीकरणम्-इति वाच्यम् ।।१६७।।

– ऐसा भी कहना उचित नहीं है कि 'तत्' या 'त्वम्' शब्द अपने अर्थो के विरुद्ध (परोक्षत्व और अपरोक्षत्व) अंशों का परित्याग कर, दूसरे अविरुद्ध अंश से युक्त त्वं-पदार्थ (चैतन्य) का या तत्पदार्थ (चैतन्य का) बोधन कराएँ। अत: प्रकारान्तर से यहाँ भाग-लक्षणा स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

एकेन पदेन स्वार्थ-अंश-पदार्थान्तर-उभय-लक्षणाया असम्भवात् पदान्तरेण तदर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः तत्-प्रतीति-अपेक्षाभावात् च ।।१६८।।

– (क्योंकि) एक शब्द के द्वारा अपने (अविरुद्ध) आंशिक अर्थ (का परित्याग) और साथ ही दूसरे अर्थ (की उपलब्धि) – दोनों में लक्षणा होना सम्भव नहीं है। (इसके अतिरिक्त) दूसरे शब्द से उस अर्थ का बोध होने में, फिर से लक्षणा के द्वारा उससे भिन्न किसी अर्थबोध की अपेक्षा नहीं रहती।

तस्मात् यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्काल-एतत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध-तत्काल-एतत्काल-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धं देवदत्त-अंशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसि इतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धम् अखण्ड-चैतन्य-मात्रं लक्षयति इति ।।१६९।।

– अतएव, जिस प्रकार 'यह वही देवदत्त है' – यह वाक्य तत् (भूत) काल तथा एतत् (वर्तमान) काल (गुणोंवाले) देवदत्त रूप वाक्यार्थ के अंश में अन्तर्विरोध होने के कारण, इसमें से 'तत्काल' और 'एतत्काल' विशिष्ट विरुद्ध अंश को त्यागकर, अविरुद्ध 'देवदत्त' अंश मात्र को ही प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य या उसका अर्थ अपने में 'परोक्षत्व-अपरोक्षत्व' आदि गुणोंवाले चैतन्य के साथ 'एकत्व' गुणवाले वाक्यार्थ के अंश से विरोध उपस्थित होने के कारण, विरुद्ध 'परोक्ष-अपरोक्षत्व' गुणोंवाले अंशों का त्याग करके अविरुद्ध 'अखण्ड' चैतन्य मात्र को ही परिलक्षित करता है।

❖ (क्रमशः) ❖

जैसे 'गंगा का गाँव' का अर्थ है – 'गंगातट पर स्थित गाँव'। इसी को भाग-त्याग लक्षणा भी कहते है, भाग अर्थात् अंश का त्याग।

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (६)

❑ जाड़े के दिनों में स्नान के बाद स्नानघर में ही वस्त्र पहनकर बाहर निकलना चाहिये। अन्यथा बाहर की हवा से शरीर में रोग लग सकता है। ग्रीष्मकाल में भी स्नान के बाद पंखे की हवा में बैठना स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं।

❑ स्नान हमेशा सुबह के समय ही करना चाहिये। दोपहर में स्नान करना आलस्य को जन्म देता है और साथ ही कार्यक्षमता में कमी आ सकती है।

❑ दोपहर के आहार तालिका में चावल, रोटी, दाल, सब्जी, घर में जमाया हुआ दही आदि लेना उचित है।

❑ आहार की मात्रा सीमित होनी चाहिये, ताकि पाचनतंत्र पर अनावश्यक दबाव न पड़े और न ही शरीर में भारीपन का बोध हो। ❖ (क्रमशः) ❖

सावित्री मन्दिर, पुष्कर में श्री माँ सारदा देवी

(रामकृष्ण मिशन, जयपुर की रिपोर्ट)

राजस्थान में अजमेर से १३ किलोमीटर की दूरी पर अरावली पहाड़ियों की गोद में स्थित प्राचीन तीर्थ पुष्कर है। उसका उल्लेख महाभारत तथा अन्य धर्मग्रन्थों में आता है तथा वह तीर्थगुरु के नाम से भी प्रसिद्ध है।

पुष्कर के मुख्य आकर्षणों में से ब्रह्माजी का मन्दिर है, जहाँ पर स्वयं आदि शंकराचार्य ने प्रजापिता की मूर्ति स्थापित की थी। कहा जाता है कि जब सृष्टिकर्ता इस सृष्टि की रचना कर रहे थे तब उनके हाथ से एक कमल का पुष्प उस स्थान पर जा गिरा, जहाँ अब पुष्कर सरोवर है। इस कारण उस स्थान का नाम पुष्कर पड़ा – पुष्प + कर। तत्पश्चात् वहाँ एक भव्य ब्रह्माजी के मन्दिर का निर्माण हुआ जो सरोवर के निकट है। उसमें माता गायत्री देवी की भी प्रतिमा है जो ब्रह्माजी के साथ प्रतिदिन मन्दिर में पूजित होती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूरे भारत में ब्रह्माजी का केवल यही एकमात्र मन्दिर है।

इस मन्दिर के पीछे थोड़ी दूर पर एक पहाड़ी के ऊपर एक अन्य मन्दिर भी है, जो सावित्री मन्दिर के नाम से जाना जाता है। दोनों मन्दिरों में हर वर्ष हजारों तीर्थ यात्री दर्शन करने आते हैं।

पुराणों की कथा के अनुसार माता सावित्री ब्रह्माजी की धर्मपत्नी थीं। सृष्टि-निर्माण के समय जब प्रजापिता ने पुष्कर में एक यज्ञ का आयोजन किया था, तब उसमें माता सावित्री को भी उपस्थित होना था पर किसी कारणवश सावित्री देवी वहाँ पर नही आ सकी और चूँकि यज्ञ प्रारम्भ करने की शुभ घड़ी निकलने ही वाली थी, ब्रह्माजी ने एक गोप बालिका, जिसका नाम गायत्री था, को शीघ्र बिठा कर यज्ञ शुरू कर दिया। जब सावित्री देवी वहाँ आयीं, अपने स्थान पर गायत्री को बैठे देखकर वे अत्यन्त क्रुद्ध हुई और सम्भवतः खेदवश पास के एक पर्वत के शिखर पर जाकर कठोर तपस्या में लीन हो गयीं। बाद मे उस पर्वत का नाम सावित्री पड़ गया। उसी स्थल पर कालान्तर में एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण हुआ जो सावित्री मन्दिर के नाम से विख्यात हुआ। देवीभागवत् मे स्पष्ट रूप से उल्लेखित है कि यह स्थल भारत के इक्यावन शक्ति पीठो मे से एक है।

कार्तिक मास मे पुष्कर में एक विशाल मेला लगता है और पूर्णिमा के दिन तो वहाँ सरोवर में स्नान करने के पश्चात् दोनों मन्दिरो मे दर्शनार्थियो की भीड़ लग जाती है। कहते है कि उस समय सरोवर में स्नान और बाद में देव-दर्शन करने से बड़ा पुण्य लाभ होता है।

कलकत्ते में परमहंस भगवान श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात् १८८७ में श्री माँ सारदा देवी अपनी तीन सहायिकाओं – गोलाप माँ, योगीन माँ, लक्ष्मी दीदी और स्वामी योगानन्द के साथ पुष्कर आई थीं। स्मरण रहे कि श्रीरामकृष्ण देव ने माँ सारदा देवी को साक्षात् सरस्वती कहा था, जो मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करने के लिये इस धरातल पर इस युग में आयी हैं। इस कारण भी माँ सारदा का पुष्कर आना और सावित्री पहाड़ पर चढ़कर मन्दिर में दर्शन करना बड़ा महत्वपूर्ण है। कहते है कि वहाँ दर्शन करते समय माँ गहरी समाधि में लीन हो गई थी और यह स्वाभाविक भी है।

सन् १९७३ में अजमेर के राजकीय महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री ओमप्रकाश शर्मा ने सावित्री मन्दिर के पुजारी श्री बेनीपाल गोपालजी शर्मा की अनुमति से वहाँ माँ श्री सारदा देवी का सुपरिचित चित्र स्थापित करवा दिया था, जो अब (१७ फरवरी २००२) तक वहाँ नियमानुसार पूजित होता रहा। इस चित्र-स्थापना के तीस वर्ष बाद, इस वर्ष रामकृष्ण मिशन, जयपुर ने उसके स्थान पर एक संगमरमर की मूर्ति बैठाने का निश्चय किया। फलस्वरूप इस वर्ष १७ फरवरी को, बसन्त पंचमी के शुभ अवसर पर उक्त देवालय में माँ श्री सारदा देवी की (२ फीट × १.५ फीट) की श्वेत संगमरमर की मूर्ति विधिवत् स्थापित की गई। प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह षोडस-उपचार पूजा, हवन इत्यादि के साथ सम्पन्न हुआ।

उस शुभ अवसर पर अजमेर, किशनगढ, जयपुर, खेतडी और दिल्ली से अनेक भक्तगण वहाँ आये और बडे आनन्द मे उस उत्सव म सम्मिलित हुये। मिशन के संन्यासी तथा स्वयंसवको ने पुष्कर ग्राम मे जाकर दरिद्रनारायणो की सेवा की तथा लगभग ५०० गरीब लोगो को भोजन कराया। रामकृष्ण मिशन दिल्ली, वृन्दावन एवं खेतड़ी के संन्यासीगण भी उस अवसर पर उपस्थित थे, जिन्होने समस्त आयोजन में सक्रिय भाग लेकर उसे सफल बनाया। मन्दिर के पुजारी, श्री बेनीपाल शर्मा ने भी अपना पूरा सहयोग प्रदान किया। सफेद संगमरमर की प्रतिमा जयपुर के एक भक्त ने बनवाई (जो अपना नाम नही देना चाहते)। इस पावन अवसर पर स्वामी एकनिष्ठानन्द जी ने पूजा की और स्वामी देशिकात्मानन्द जी तंत्रधारक रहे।

इस मन्दिर मे अब माँ सावित्री देवी तथा माँ सरस्वती देवी के साथ उक्त मन्दिर मे माँ श्री सारदा देवी भी भक्तो पर कृपा करने हेतु विराजमान है।

प्रेषक – स्वामी पूज्यानन्द तथा रिंकू राय, जयपुर

❖ ❖ ❖